ॐ श्री परमात्मने नमः

अष्टम अध्याय

सप्तम अध्याय के अन्त में भगवान ने अधिभूत, अधिदैव, अधियज्ञ आदि शब्दों का प्रयोग किया था जो अर्जुन के लिए नए थे अतः उसकी उत्सुकता जाग उठी। उसे प्रश्न मिल गए। अष्टम अध्याय का आरम्भ उसके प्रश्नों से ही होता है। भगवान ने यह भी कहा था कि इन सबको जानने वाला व्यक्ति अपने प्रयाण काल में भी मुझे ही जानता है। यह प्रयाण साधना ही अष्टम अध्याय का मुख्य विषय है। यह प्रयाण काल मधुर हो इसी दृष्टि से जीवन के सारे उद्योग होने चाहिए क्योंकि जो विचार मरते समय प्रबल रहता है वही अगले जीवन में बलवान सिद्ध होता है। इसी पाथेय, इसी पूंजी को लेकर जीव आगे की यात्रा शुरू करता है जैसे आज की कमाई को लेकर हम अगले दिन का व्यापार शुरू करते हैं। इस जन्म का जो अंत है वही अगले जन्म का आरम्भ है।

मनुष्य का जीवन अनेक संस्कारों से भरा होता है। दिन भर हम अनगिनत कार्य करते हैं किन्तु रात को याद करने बैठें तो पांच छः कार्य ही याद हो जाएंगे। बाकी कार्य निरर्थक होते हों ऐसी बात नहीं, लेकिन ये कुछ कार्य ज्यादा स्पष्ट और प्रभावकारी होते हैं, इन्होंने मन पर कुछ गहरा असर छोड़ा जिसके फलस्वरूप ये याद हैं।

यह असर ही संस्कार है। अब, यदि सप्ताह भर की क्रियाओं को याद करने बैठें तो इनमें से भी दो चार छूट जाएंगी। पिछले महीने का हिसाब लगाने बैठें तो वही बातें याद रहेंगी जो बहुत महत्वपूर्ण हो। इस प्रकार साल-दर-साल में हुई असंख्य क्रियाओं और अनन्त ज्ञान के होने पर भी अंत में मन के पास बहुत थोड़ी बचत रहती है। बाकी कर्म और ज्ञान आए और अपना कार्य करके समाप्त हो गए। ये बचे हुए संस्कार हमारे जीवन की पूंजी है। जीवन रूपी व्यापार करके हम संस्कार रूपी पूंजी कमाते हैं।

जैसे व्यापारी रोज ही रोकड़ लिखने के बाद अपनी बैलेंस शीट में एक आंकड़ा निकालता है उसी प्रकार जीवन में अनेक संस्कारों के जमा होते-होते अंत में एक छोटी किंतु स्पष्ट रोकड़ बाकी बच जाती है। जब जीवन की आखिरी घड़ी आती है तब इसी रोकड़ को आत्मा याद करने लगती है। जीवन भर क्या-क्या किया, सोचने पर कमाई के रूप में जो दो चार बातें दिखाई देती हैं उसी के आधार पर अंतिम गति और नये जीवन की शुरूआत होती है। बाकी सारे कर्म और ज्ञान तो अपना काम पूरा करके गौण हो गए हैं, हां इन संस्कारों को बनाने में इनका योगदान अवश्य रहा है। इसलिए इस अंतिम रकम को ध्यान में रखकर सारे जीवन की योजना बननी चाहिए। अंतिम क्षण को अत्यन्त पावन, मधुर और पुण्यमय बनाने का अभ्यास जीवन भर करते रहना चाहिए, यही इस अध्याय का विषय है। इस बात का ध्यान रखें कि मानस पटल पर अच्छे संस्कार अंकित होते जाएं। यही प्रयाण साधना है और यदि हमने सावधानी पूर्वक जीवन जीया तो मृत्यु के बाद दूसरी योनि में नही जाना पड़ेगा। हम सीधे परमात्मा से जुड़ सकते हैं। मृत्यु की भी आवश्यकता नहीं, मन में परमात्म भाव की निरंतरता ही परमात्मा की प्राप्ति है और वह इसी जन्म में, इसी देह में की जा सकती है। इसी प्रयाण साधना और परमपद के विषय में हम इस अध्याय में जानकारी प्राप्त करेंगे।

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ।।१।।

अर्जुन ने कहा - हे पुरुषोत्तम! वह ब्रह्म क्या है? अध्यात्म क्या है? अधिभूत नाम से क्या कहा गया है और अधिदैव किसको कहते हैं?

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाण काले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ।।२।।

हे मधुसूदन! यहां अधियज्ञ कौन है? और वह इस शरीर में कैसे है? तथा युक्तचित्त वाले पुरुषों द्वारा अन्त समय में आप किस प्रकार जानने में आते हैं?

श्री भगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्म संज्ञितः ।।३।।

श्री भगवान ने कहा - परम अक्षर ब्रह्म है। (विभिन्न प्राणियों में) उसके स्वभाव अर्थात् स्वरूप को अध्यात्म कहते हैं। प्राणियों के भाव को उत्पन्न करने वाला जो त्याग है उसे कर्म कहते हैं।

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोहमेवात्र देहे देहभृतां वर ।।४।।

विनाश वाले सब पदार्थ अधिभूत हैं। पुरुष (तत्व) अधिदेवता है और देह धारियों में श्रेष्ठ अर्जुन, इस शरीर में मैं ही अधियज्ञ हूं।

सप्तम अध्याय के अन्त में भगवान ने जिन शब्दों का प्रयोग किया है उनका संक्षिप्त परिचय वे इन दो श्लोकों में दे रहे हैं। गीता में हर स्थान पर भगवान एक क्रांतिकारी विचारक के रूप में उभरे हैं। पुराने शब्दों को वे नया अर्थ प्रदान करते हैं। कर्म शब्द का उन्होंने जो अर्थ यहाँ बताया है वह अद्भुत है और अपने में सभी प्रचलित अर्थों को समा भी देता है। हम भगवान द्वारा दी गई सभी परिभाषाओं के अर्थ एक-एक कर समझने का प्रयत्न करेंगे।

परम अक्षर ब्रह्म है:-विषयों और वस्तुओं के इस नाशवान जगत के पीछे जो अविनाशी सत्ता है उसे ब्रह्म कहते हैं। इसे ही हम आत्मा या चेतना कह सकते हैं जो शरीर मन बुद्धि को चैतन्य बनाता है। इसी के कारण अपने जन्म से मृत्यु तक की हर घटना के हम साक्षी होते हैं।

विभिन्न प्राणियों में इसके स्वरूप को अध्यात्म कहते हैं:- आत्मा स्वयं निराकार और सर्वव्यापी है। शरीर के अन्दर यह कोई स्थान नहीं घेरती लेकिन इसकी शक्ति, इसकी महत्ता, इसके प्रभाव को हम समझ पाते हैं, उसका अनुभव कर पाते हैं। इसी की उपस्थिति के कारण यह सीमित देह कार्य करती है। शरीर के माध्यम से अभिव्यक्त होने पर ऐसा लगता है कि

यह परमात्मा का एक अंश है। इसे ही जीवात्मा कहते हैं। वास्तव में जीवात्मा परमात्मा भिन्न नहीं। जैसे विस्तृत आकाश में हम कहीं चार दीवारें खड़ी कर दें तो उनके बीच का आकाश कमरे का आकाश कहलाता है और बाहर के आकाश से भिन्न लगने लगता है। वह नाना प्रकार के गुण दोषों से भी संयुक्त लग सकता है- सुगंध मय, दुर्गन्ध मय, सीलन पूर्ण इत्यादि किंतु वास्तव में वह बाहर के आकाश से भिन्न है नहीं और न ही इन गुण दोषों से युक्त है। यदि इन सुगन्ध दुर्गन्ध आदि पैदा करने वाले कारणों को मिटा दिया जाए तो कमरे का आकाश बाहर के विस्तृत आकाश की ही भांति निर्मल हो जाएगा और यदि ये दीवारें हटा दी जाएं तो वह महाकाश से मिलकर एक हो जाएगा यानि अपने स्वरूप में समा जाएगा। इसी प्रकार शरीर, मन, बुद्धि तथा अहंकार की दीवारों से परिछिन्न होने के कारण परमात्मा का स्वरूप बदला हुआ आभासित होने लगता है उसमें विभिन्न गुण दोष भी दिखाई देने लगते हैं। तब यह जीवात्मा कहलाता है। अध्यात्म शब्द जीव के इसी होनेपन (स्वभाव) का वाचक है।

भूतों के भाव अर्थात् होनेपन को प्रकट करने के लिए जो विसर्ग है उसे कर्म कहते हैं:- कर्मकांडी कर्म का अर्थ यज्ञ आदि को मानते हैं। वे कहते हैं कि यज्ञ में जो आहुतियाँ दी जाती है अर्थात् त्याग किया जाता है उसी के फल स्वरूप भूतों की उत्पत्ति होती है, अत: यज्ञ में अहुति देने को कर्म कहते हैं। किंतु गीता इन वैदिक कर्म काण्डों को मान्यता नहीं देती अत: इसका और गहरा अर्थ ढूंढना आवश्यक है। हर क्रियाशील विचार के पीछे जो रचनात्मक शक्ति है जो अन्तत: प्राणियों और वस्तुओं के रूप में प्रकट होती है उसे कर्म कहा जाना चाहिए। बाकी सब तो झूठा पसीना बहाना है, खून बहाना है, रोना है, सिसकना है, जमाखोरी है, बर्बादी है। उन्हें कर्म नहीं कहा जाएगा भगवान का अभिप्राय यही है कि कर्म उन्हें ही कहा जाएगा जो सृजन या रचना करते हैं। इसी लिए गीता जब कहती है कि कर्म करते रहो, कर्म का त्याग मत करो तो कर्म में दुष्कर्म या निरर्थक कर्म को शामिल नहीं करना चाहिए। ये रचनात्मक कार्य नहीं है। हमारे किसी कार्य से दूसरे का अहित होता हो तो वह सृजनकारी नहीं विध्वंसकारी है। इस लिए गीता का कर्म शब्द उसके लिए नहीं है।

क्षर भाव अधिभूत है:- आत्मा अर्थात् अक्षर ब्रह्म शरीर में बुद्धि के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। ये शरीर मन बुद्धि प्रकृति के पांच तत्वों से बने हैं। शरीर मन बुद्धि हमारे नाशवान क्षर तत्व हैं। इन्हें ही अधिभूत कहते हैं। क्षर और अक्षर में वही अन्तर है जो कार और पेट्रोल में या इंजन और भाप में। भाप में क्षमता है लेकिन वह क्षमता तभी प्रकट होती है जब वह इंजन में प्रवेश करती है। भाप के बिना इंजन चल नहीं सकता और इंजन के बिना भाप शक्तिमान होते हुए भी अव्यक्त है। इसी प्रकार अक्षर ब्रह्म भी जब क्षर प्रकृति से परिछिन्न होता है तभी वह अभिव्यक्त होता है। प्रकृति के ये सारे नाशवान तत्व ही अधिभूत हैं।

पुरुष अधिदैव है:- बाह्य स्पर्श, संवेदनाएं, भावनाएं आदि को ग्रहण करने वाले जो क्षर उपकरण हैं इनकी शक्ति ही अधिदैव है जिसके कारण ये उपकरण कार्य कर पाते हैं। जिस शक्ति के कारण आंखें देख सकती है वह आंखों का अधिदैव है, जिसके कारण कान सुन सकते हैं वह कानों का अधिदैव है। ये सारी शक्तियां आत्मा यानि पुरुष की ही है।

इस शरीर में अधियज्ञ मैं ही हूं:- अधियज्ञ अर्थात् शरीर में होने वाले यज्ञ का व्यापक अर्थ एक बार पुन: समझ लें। व्यापक रूप में यज्ञ का अर्थ इन्द्रिय मन बुद्धि की विभिन्न क्रियाएं हैं। जैसे हमारी आंखें कोई दृश्य देखती है तो वह दृश्य आहुति के रूप में आंख रूपी कुण्ड में प्रवेश करता है और आंखों के अधिदेवता यानि देखने की शक्ति द्वारा ग्रहण किया जाता है। दृश्य का ज्ञान होना इस यज्ञ का फल है। इस सम्पूर्ण अधियज्ञ में हर कदम पर परमात्मा ही व्याप्त है। वही दृश्य के रूप में अभिव्यक्त हो रहा है, वही आंख के रूप में और वही आंखों की देखने की क्षमता के रूप में प्रकट हो रहा है। सब कुछ ब्रह्म है, ब्रह्म ही है, ब्रह्म के अलावा और कुछ नहीं है।

इन सारी परिभाषाओं का अभिप्राय यही है कि ब्रह्म ही सत्य है। जो जगत में हमें दिखाई देता है वह मिथ्या है अर्थात् ब्रह्म के ऊपर एक अल्पकालीन आरोपण मात्र है अत: ब्रह्म को जानना ही सब कुछ जान लेना है। ब्रह्म को जानना अपनी और संसार की वास्तविकता को जानना है। जो इस प्रकार ब्रह्म को तत्व रूप से जान लेता है वह शरीर की सभी क्रियाओं को बिना विचलित

हुए साक्षी भाव से देखेगा। ऐसा व्यक्ति जब शरीर का त्याग करेगा तब क्या होगा यह बताते हुए भगवान कहते हैं-

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशय ।।५।।

जो मनुष्य अन्तकाल में भी मेरा स्मरण करते हुए शरीर छोड़ कर जाता है वह मेरे को ही प्राप्त होता है, इसमें कोई संदेह नहीं है।

भगवान का कहना है कि शरीर के त्याग के वक्त जिस व्यक्ति को उनकी ही याद रहती है वह उनके पास जाता है। कुछ व्यक्ति इस श्लोक को पढ़कर बड़े खुश हो जाते हैं कि मुक्ति पानी है तो सारा जीवन मौज मजे छोड़कर राम राम करने की क्या जरूरत है, मरते समय राम राम करेंगे तो ही काम बन जाएगा। ऐसे व्यक्ति दो बातों पर ध्यान दें। एक तो यह कि इस श्लोक में 'अन्तकाले च' अर्थात् 'अंतकाल में **भी**' शब्द का प्रयोग किया गया है यानी सारे जीवन यथाशक्ति साधना करें ही, अंत समय में भी याद भगवान की ही बनी रहनी चाहिए। इस संदर्भ में अजामिल की कहानी को उदाहरण नहीं बनाना चाहिए कि उसने अपने पुत्र नारायण को पुकारा था उसी से उसका उद्धार हो गया। अजामिल किसी समय में बहुत पुण्यात्मा था, उसने साधना की थी। वह तो वेश्या के सम्पर्क में आकर कुछ काल के लिए भ्रष्ट हो गया था। बाद में भी उसने साधना की और तब भगवान की प्राप्ति हुई थी। इस कथा से बहक कर हम वर्तमान में साधना न करें तो यह मूर्खता होगी।

दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि जिन्दगी भर हमने राम का नाम नहीं लिया तो अन्त काल में याद कहां से आएगी? मृत्यु की पीड़ा से तो हाय हाय ही निकलेगी। अतः जीवन में सतत् अभ्यास जरूरी है। हम कुछ भी करें अन्दर अन्दर भगवन्नाम का जप चलता रहे। कुछ दर्द हो, पीड़ा हो तो विशेष ध्यान कर नाम जप का प्रयत्न करें। चोट लगने पर 'ओह रे' के स्थाना पर 'हे राम' कहने का अभ्यास करें। ऐसा अभ्यास होने पर मृत्यु के समय स्वयमेव भगवान का नाम निकलेगा जैसे महात्मा गांधी के निकला था।

मरणासन्न व्यक्ति के पास बैठकर भी रोना पीटना करने के बदले भगवन्नाम का कीर्तन करना चाहिए जिससे उसकी वृत्ति संसार से विमुख होकर भगवान में लग पाए।

यह प्रयाण साधना है जिसका पूर्ण वर्णन आठवें अध्याय में किया गया है। अब बात यह है कि भगवान के केवल बोल देने से मात्र अर्जुन कैसे मान ले। उसे तो तर्क सहित समझाना होगा। भगवान कहते हैं–

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ।।६।।

हे कौन्तेय, मनुष्य अन्तकाल में जिस जिस भाव का स्मरण करते हुए शरीर छोड़ता है वह उसी (अन्तकाल) के भाव से प्रभावित होकर उसी को प्राप्त होता है।

भगवान स्पष्ट कहते हैं कि मुझे याद करने वाला मुझे प्राप्त होता है यह कोई अपवाद स्वरूप नहीं होता। यह तो प्रकृति का नियम ही है कि अन्तकाल में जो जिसे याद रखते हुए शरीर छोड़ता है, चाहे वह मैं होऊं या कोई भी और, वह उसी के अनुरूप नया जन्म लेकर अपनी शरीर यात्रा आरम्भ करता है।

वास्तव में आत्मिक दृष्टिकोण से मृत्यु तो कुछ है नहीं, यह तो जीवात्मा के परमात्मा में विलीन होने तक की यात्रा का एक मोड़ है। यह तो स्पष्ट और स्वभाविक बात है कि यदि आप घर से निकलें और भजन के भाव से भावित हैं तो मंदिर जाएंगे, गहनों के भाव से भावित हैं तो आभूषण की दुकान पर जायेंगे। भगवान के दर्शन की इच्छा रखने वाला शराब खाने जा ही कैसे सकता है? यदि हमें किसी लम्बी यात्रा के लिए जाना हो तो पहले तो घर से निकलने वक्त स्टेशन जाने का भाव मन में रहेगा तब हम कार में बैठेंगे। स्टेशन पर पहुंच कर गन्तव्य स्टेशन जाने के लिए रेल में बैठेंगे। वहां उतर कर बस के द्वारा हम किसी गांव तक जायेंगे। उसके बाद अपने गन्तव्य तक पहुंचने के लिए हमें शायद बैलगाड़ी धारण करनी पड़े। अर्थात्

हमारे मन में अगला लक्ष्य जो होगा उसी के अनुसार हम वाहन का चुनाव करेंगे।

ठीक उसी प्रकार अपनी लम्बी यात्रा में जीवात्मा जब बार बार चोला बदलती है तो यह तभी होता है जब पुरानी देह यात्रा के उपयुक्त न रह जाये और नई देह वैसी ही होगी जैसी जीव सोचेगा। यदि जीवन भर परिवार, पुत्र-पौत्र आदि में ही जीव लगा रहा और मरते वक्त भी उन्हीं की याद में मन घूमता रहा तो अपने ही घर का कुत्ता, बिल्ली, सांप या चूहा, चींटी भी बन सकते हैं ताकि यह विशेष लालसा पूरी हो जाये।

सुनने में खराब भले लगे पर बात है सत्य। अत: समझदारी इसी में है कि हम अपने जीवन को सावधानी से जियें। अपनी क्रियाओं के प्रति ही नहीं अपने भावों विचारों और संस्कारों के प्रति पूर्ण सजग रहें। इसी चेतावनी के साथ भगवान अगला श्लोक कह रहे हैं-

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ।।७।।

इसलिए तू सब समय में मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझमें अर्पण किए हुए मन-बुद्धि से युक्त होकर तू नि:संदेह ही मुझको ही प्राप्त होगा।

एक बार फिर भगवान अपने टेक पर उतर आए हैं- 'अर्जुन तू युद्ध कर।' इतनी अधिक बार उन्होंने 'युद्ध कर, युद्ध कर' इसलिए कहा है कि इन बातों को सुनकर कभी भी किसी के भी मन में किसी भी कोने में यह बात न आ जाए कि संसार के कर्म तो बेकार हैं। संसार तो मिथ्या है, इसे छोड़ो और बैठ कर राम राम जपो। दुख की बात तो यही है कि इतना कहने पर भी लोगों ने इसके मर्म को समझा नहीं। अर्जुन के लिए युद्ध का अर्थ कुरुक्षेत्र का रण था, हम सबके लिए अपने अपने बाहरी और भीतरी जगत का संघर्ष है। संसार को मिथ्या कहकर छोड़ने से नहीं चलेगा। संसार यदि मिथ्या है तो मेरा शरीर भी तो मिथ्या ही है। इसी मिथ्या उपकरण द्वारा जब सत्य को पाने का प्रयत्न करना है तो कर्म का त्याग क्यों? मिथ्या शरीर से

मिथ्या जगत में कार्य करते हुए ही हमें इसकी नश्वरता को समझना है। कर्म तो करने को हम बाध्य हैं, वह तो हमें करना ही होगा। निकम्मे लोग भी सोने, खाने का कर्म करते हैं। पर वह कर्म सार्थक नहीं है, वह अपनी विजय के लिए किया गया कर्म नहीं है। बाहरी जगत में सफलता पूर्वक निर्वाह करता हुआ जो व्यक्ति अपने मन की बुराईयों से लड़ता हुआ चित्त को निर्मल बना पाता है वही सच्चा योद्धा है। यह युद्ध हमें करना है और भगवान को स्मरण करते हुए करते रहना है यह तकनीक है जिसके द्वारा हम उच्चतम पद को अवश्य-अवश्य प्राप्त होंगे।

गीता हमें हर कदम पर कर्म, भक्ति और ज्ञान का समन्वय सिखाती है। ऐसा व्यक्ति ही स्थिर बुद्धि वाला हो सकता है, ऐसा व्यक्ति ही युक्त चित्त वाला हो सकता है जो किसी भी परिस्थिति में घबराएगा नहीं, अपना विवेक नहीं खोएगा। उसके निर्णय सही होंगे, उसके कर्म उत्कृष्ट होंगे। फिर सफलता जाएगी कहां? अत: यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि सांसारिक सफलता और आध्यात्मिक सफलता भिन्न नहीं है। जो बाहर सफल है वही अन्दर सफल है। वही योगी है।

इस रहस्य को न समझने के कारण ही आज संसार में हमें दो प्रकार के लोग दिखाई देते हैं। एक तो जटा जूट बढ़ाए शरीर की स्वच्छता और परिवेश की सफाई के प्रति भी उदासीन धूनी रमा कर अलख निरंजन रटते रहने वाले। दूसरे वे लोग जो साफ सुन्दर अट्टालिकाओं में रहते हैं लेकिन मन की स्वच्छता का ध्यान नहीं। संसार की प्रतिद्वंद्विता में विजयी होने के लिए लूट खसोट में लगे इन लोगों का रहन-सहन तो उच्चकोटि का होता है लेकिन जीवन स्तर अत्यन्त निम्न कोटि का। इनकी अंतिम गति, आखिरी नतीजा क्या होता है यह सब हम जान ही रहे हैं, देख ही रहे हैं।

भगवान ने कह दिया कि दोनों ही मुझ सच्चिदानन्द को नहीं पा सकते। आनन्द की प्राप्ति उसे ही होगी जो मुझे याद करते हुए संघर्ष करता रहता है या जो संघर्ष करते हुए मुझे याद करता रहता है। ऐसा व्यक्ति तन से तो संसार में कार्य करता है लेकिन मन बुद्धि मुझे समर्पित होती हैं। यही सफल जीवन का विज्ञान है जिससे हमारे रहन सहन का स्तर और जीवन का स्तर साथ साथ ऊपर उठेगा।

अभ्यास योग युक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ।।८।।

हे पार्थ, परमेश्वर के ध्यान रूपी अभ्यास के कारण जिसका चित्त दूसरी ओर नहीं जाता वह निरन्तर चिन्तन करता हुआ मनुष्य दिव्य पुरुष यानि परमेश्वर को ही प्राप्त होता है।

आदर्श योगी और सच्चा भक्त वही है जिसका तन संसार में और मन भगवान में हो। जैसे मालिक के बच्चे की देख रेख करने वाली धाय दिनभर अपने कर्त्तव्य का निर्वाह करती है लेकिन मन अपने उस बच्चे में रहता है जिसे वह घर पर छोड़ आई है। मालिक के बच्चे को वह बिलकुल प्यार नहीं करती ऐसी बात नहीं। वह बहुत दुलार के साथ उसे खिलाती पिलाती है पर ध्यान अपने बच्चे में बना रहता है। उसी के दूध के लिए पैसे जुटाने वह मालिक के बच्चे को दूध पिला रही है। इसी प्रकार संसार में अपने शरीर से भरपूर कार्य करें, धन भी कमाएँ, शरीर की आवश्यकताओं को पूरा करें लेकिन पेट भरना या धन कमाना अथवा भोग भोगना ही लक्ष्य न हो।

कर्म करते करते हम भगवान को याद करते रहने, नाम जप करते रहने का अभ्यास करना आरम्भ कर लें तो धीरे धीरे इस अभ्यास के कारण ऐसी स्थिति आ जाती है कि अवचेतन मन में निरन्तर जप चलता रहता है अर्थात् चित्त कहीं दूसरी ओर जाता ही नहीं। हम कुछ भी कर रहे हों, सोते जागते खाते पीते अन्दर ही अन्दर जप चलता रहता है। भगवान कहते हैं कि ऐसे अभ्यास से जो युक्त हो गया है वह उस दिव्य परम पुरुष को ही प्राप्त होता है जिसे ब्रह्म कहते हैं।

इससे स्पष्ट होता है कि चित्त में परमात्म भाव की निरन्तरता ही परमात्मा की प्राप्ति है। जिस काल में यह निरन्तरता सध गई उसी काल में ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है। अतः इसके लिए शरीर को त्यागना भी आवश्यक नहीं। परमात्मा हमसे दूर सातवें आसमान के पार बैठा कोई दिव्य पुरुष नहीं जिस तक हम इस शरीर से नहीं पहुंच सकते। मृत्यु के बाद की मोक्ष को गीता महत्व नहीं देती। परमात्मा को तो प्रयत्न करके इसी जीवन में, इसी शरीर द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। वास्तव में वह शरीर में ही है अतः

'प्राप्त करना' कहना भी गलत है अतः यहां 'जानना', 'मेरे भाव को प्राप्त होना' आदि शब्दों का व्यवहार किया गया है। परमात्मा को जानना ही उसे पाना है। जैसे पॉकेट में चाभी हो पर हमें यह बात मालूम न हो तो खोज बनी रहेगी। जिस क्षण हमने जान लिया कि चाभी पॉकेट में ही है उसी क्षण उसे पा लिया। फिर हमें और कुछ नहीं करना पड़ता।

ब्रह्म को यहां परम दिव्य पुरुष की संज्ञा दी गई है। ब्रह्म दिव्य है क्योंकि उसी की आभा से हम सब कुछ देख सुन समझ पा रहे हैं पर चित्त में राग द्वेष आदि मल के लगे होने के कारण यह दिव्यता प्रकट नहीं हो रही है जैसे पानी मैला हो तो सूर्य की चमक दिखाई नहीं देती। साधना इसी मल को हटाने की है। दिव्यता को जान लेना ही परम पुरुष को पा लेना है।

चित्त में जिस दिव्य ब्रह्म के भाव की निरन्तरता हो यानि ध्यान बना रहे वह ब्रह्म कैसा है, यह बताते हुए भगवान कहते हैं-

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।।९।।

सर्वज्ञ, पुराण, शासन करने वाला, सूक्ष्म से सूक्ष्म, सबको धारण करने वाला, अचिन्त्य, सूर्य के समान प्रकाश स्वरूप तथा अज्ञान से परे जो ऐसे (स्वरूप का) स्मरण करता है-

किसी को भी किसी खास वस्तु या व्यक्ति के विषय में सोचने विचारने को कहा जाए तो उसके विषय में कुछ जानकारी होना आवश्यक है। जैसे किसी छोटे बच्चे को यह कह दिया जाए कि तुम परमाणु रियेक्टर के बारे में चिन्तन करो। अब वह बच्चा न परमाणु क्या होता है यह जानता है, न वह रियेक्टर का अर्थ समझता है तो उसका बाल सुलभ मन उटपटांग कल्पना भले कर ले, चिंतन तो नहीं कर पाएगा। परमाणु रियेक्टर का चिंतन (रिसर्च) करने के लिए परमाणु के गुण, धर्म, उसमें निहित शक्ति आदि का विस्तृत ज्ञान आवश्यक है तभी व्यक्ति कुछ सोच पाएगा कि इस शक्ति का उपयोग कैसे किया जा सकता है। इसी प्रकार परमात्मा का नित्य चिंतन बना रहे इसके लिए परमात्मा के विषय में जानना आवश्यक है।

अब मुश्किल यह है कि परमात्मा तो वह कारण है जिसके फलस्वरूप शरीर, मन, बुद्धि आदि कार्य करते हैं, अतः यह न तो आंख, कान, नाक, आदि से देखा सुना सूंघा जा सकता है, न मन से अनुभव किया जा सकता है न बुद्धि द्वारा समझा जा सकता है। इनके अलावा अन्य साधन हमारे पास है नहीं अतः परमात्मा का पूर्ण विवरण देना या लेना असम्भव है। यहां अनेक शब्दों द्वारा उसे निर्देशित किया गया है। इनमें से कोई भी शब्द पूर्णरूपेण उसकी व्याख्या नहीं करता लेकिन इसके सहारे हम अपनी विचार प्रक्रिया का आरम्भ कर सकते हैं जैसे आकाश में उड़ती चिड़ियों को दिखाने के लिए हम उंगलियों से निर्देशित करते हैं। देखने वाला उंगलियों की पोर को ही देखता रहे तो उसकी नजर चिड़िया तक नहीं पहुंचेगी। उसे पोर से आगे उसी दिशा में नजर बढ़ानी होगी। इसी प्रकार इन शब्दों के सहारे हम परमात्मा को समझने का प्रयत्न करें।

कविः– कवि का अर्थ है सर्वज्ञ। सम्पूर्ण प्राणियों को, उनके शुभाशुभ कर्मों और उनके फल को जानने के कारण परमात्मा का नाम कवि है।

पुराणम्ः– परमात्मा सबके आदि होने के कारण प्रचीनतम अर्थात् पुराणम् कहे जाते हैं क्योंकि बाकी चराचर प्राणियों की उत्पत्ति तो बाद में ही हुई है।

अनुशासितारम्ः– हमारी इन्द्रियों को अनुशासित करने वाला मन है। मन को अनुशासित करने वाली बुद्धि, बुद्धि को चलाने वाला अहंकार है। और ये सभी अनुशासित ढंग से तभी चल सकते हैं जब आत्मा का निवास हो। अतः इसे अनुशासित करने वाला कहा गया है।

अणोरणीयांः– जो सूक्ष्म से सूक्ष्म अणु तक में व्याप्त है उससे सूक्ष्म तो कुछ हो ही नहीं सकता। इस शब्द का तात्पर्य यह है कि वह मन बुद्धि आदि स्थूल उपकरणों से समझा नहीं जा सकता।

सर्वस्य धातारम्ः– सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को सत्ता तथा जीवन प्रदान करने वाला परमात्मा ही है अतः उसे सबका धाता कहा गया है।

अचिन्त्य रूपम्ः– परमात्मा का स्वरूप अचिन्त्य है अर्थात् मन बुद्धि के क्षेत्र से परे है। यहां शंका हो सकती है कि जो अचिन्त्य है ही उसका चिंतन कैसे करें। वास्तव में 'वह परमात्मतत्व केवल चिन्तन द्वारा नहीं जाना

जा सकता' यह दृढ़ता के साथ धारण करना ही उसका चिंतन करना है जो स्वयमेव साधना को जन्म देगा।

आदित्य वर्णः- वह सूर्य के समान हैं। जैसे नदी तालाब फूल फल रहते हुए भी सूर्य के प्रकाश के बिना देखे नहीं जा सकते वैसे शरीर हो लेकिन आत्मा का प्रकाश न हो तो आंखें देख नहीं सकती, कान सुन नहीं सकते।

तमसः परस्तात्ः- वह तम यानी अंधकार अर्थात् अज्ञान से बिलकुल परे पूर्ण ज्ञान स्वरूप है। वह तो अज्ञान का भी प्रकाशक है। 'मैं नहीं जानता' यह जानने के लिए भी शरीर में परमात्मारूपी चेतना होनी आवश्यक है।

इस प्रकार परमात्मा का चिंतन करने से क्या होता है यह भगवान बताते हुए कहते हैंः-

प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥१०॥

वह भक्तियुक्त मनुष्य अंत समय में अचल मन से और योग बल के द्वारा भृकुटि के मध्य में प्राणों को अच्छी तरह प्रविष्ट करके (शरीर छोड़ने पर) उस दिव्य पुरुष को प्राप्त होता है।

पिछले श्लोक में जिस अचिन्त्य ब्रह्म के चिंतन के लिए जो निर्देश बताए गए थे, उनके अनुसार चिंतन करने वाला अपने प्रयाण काल को किस प्रकार प्राप्त करता है, यह इस श्लोक में बताया गया है।

उसका मन अचल होता है। हम चलकर वहीं जा सकते हैं जहां हम अभी नहीं हैं। हम जहां अभी भी विराजमान है, वहां चलकर नहीं जा सकते। हमारा मन भी कभी यहां, कभी वहां जाता है, तो वह इसलिए कि 'यहां' और 'वहां' की वस्तुओं में अन्तर है। जहां स्वादिष्ट भोजन है, वहां रेशमी वस्त्र नहीं, जहां रेशमी वस्त्र है, वहां खेल का मैदान नहीं, अतः मन भटकता है। यदि सर्वत्र एक ही वस्तु नजर आए तो वह वहां से हटकर कहां जाएगा? इसीलिए जिसे परमात्मा सर्वस्य धाता के रूप में जान पड़ रहा है, उसके लिए तो सभी कुछ तत्वतः परमात्मा ही है, फिर उससे हटकर उसका मन ऊपरी

तत्वहीन बातों में जाएगा ही कैसे? इसीलिए ऐसे चिंतनशील व्यक्ति का मन अचल हो जाता है।

वह भक्तियुक्त होता है। हम सांसारिक प्रेम के भी दो रूप देखते हैं। अपने से छोटों के प्रति हमारा प्रेम अलग तरह का होता है और बड़ों के प्रति प्रेम अलग तरह का होता है। बड़ों के प्रेम में आदर का भाव समाहित हो जाता है। उसी प्रकार लौकिक और अलौकिक के प्रति प्रेम भी भिन्न-भिन्न प्रकार होते हैं। लौकिक वस्तुओं और व्यक्तियों के प्रेम में आसक्ति होती है और अलौकिक के प्रति प्रेम में श्रद्धा। इसी श्रद्धायुक्त प्रेम को भक्ति कहते हैं जब परमात्मा की सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता को समझने लगते हैं, तो स्वाभाविक ही हमारी उसके प्रति भक्ति की भावना उपजेगी।

भगवान कहते हैं कि ऐसा अचल मन वाला भक्तियुक्त पुरुष अंतकाल में योगबल से प्राणों को भृकुटि के मध्य में स्थिर करता है। पहले ही बताया जा चुका है कि प्राणों का अर्थ शरीर की विभिन्न क्रियाएं हैं जो जीवन के प्रतीक हैं। ये पांच हैं-

१. **प्राणः**- विषयों को इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करने की क्रिया, २. **अपानः-** विसर्जन क्रिया ३. **व्यानः-** पाचन क्रिया, ४. **समानः-** रक्त संचार क्रिया एवं ५. **उदानः-** दिखाई देनेवाली वस्तुओं से परे भी विचार करने की क्रिया।

जब हम कहते हैं कि हमारे शरीर में प्राण है तो इसका अर्थ होता है कि ये पांचों क्रियाएं हो रही है। प्राण निकलने का अर्थ इन क्रियाओं का बंद हो जाना है। ये क्रियाएं शरीर में स्वत: होती रहती है। दीर्घकाल तक कठोर साधना करने पर ऐसी क्षमता आ जाती है कि योगी अपनी इच्छानुसार इन क्रियाओं को रोक या नियंत्रित कर सकता है। ऐसा योगी अंत काल में इनको अपने योगबल से रोक कर ऐसी अवस्था में पहुंच जाता है जब उसकी आत्मा-परमात्मा के साथ उस प्रकार एकाकार हो जाती है जैसे कमरे की दीवारें टूटने पर कमरे का आकाश बाहरी पूर्ण आकाश के साथ एकाकार हो जाता है।

इन दो श्लोकों में जो प्रयाण साधना बताई गई है, वह तो अति विशिष्ट लोगों की है। इस प्रकार देह त्याग तो विवेकानन्द जैसे ही कर सकते हैं।

सामान्य काल में ही मन को स्थिर कर परमात्मा में लगाना तथा शरीर की सहज भौतिक क्रियाओं को नियंत्रित करना दुस्तर है, तो मृत्यु के कठिन समय में प्राणों को भृकुटि के मध्य में स्थापित करने की बात तो आकाश के तारे तोड़ने जैसी है। फिर भी कुछ असाधाारण योगियों को इस प्रकार योगबल के द्वारा प्राण त्यागते देखा गया है। देहान्त के बाद उन्हें नि:संदेह दिव्य परमात्मपद की प्राप्ति होती है।

किन्तु गीता तो जीवन का विज्ञान है। वह केवल मृत्यु के बाद के परमपद का वर्णन नहीं करती। जीवन की समाप्ति पर परमपद कैसे प्राप्त हो, इसके लिए क्या करना चाहिए, यह उन्होंने इन दो श्लोकों में बता अवश्य दिया है, पर इतने मात्र से वे संतुष्ट नहीं।

अब वे इसी शरीर द्वारा साधना करके इसी जीवन में ब्रह्म पद पाने की कला बताना चाहते हैं। वे कहते हैं-

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ।।११।।

जिस (ब्रह्म) को वेद के ज्ञानी अक्षर कहते हैं, जिस (ब्रह्म पद) को वीतरागी यति प्राप्त करते हैं, उसे पाने के लिए ब्रह्मचर्य का पालन किया जाता है उस (ब्रह्म) पद को मैं तेरे लिए संक्षेप में कहूंगा।

पिछले दो श्लोकों में ब्रह्म पद को प्राप्त करने की जो पद्धति वर्णित की गई वह तो अत्यन्त विशिष्ट लोगों के लिए थी जो सिद्ध योगी हैं। अब भगवान अर्जुन से कह रहे हैं- मैं तेरे लिए कहूंगा। अर्थात् अब जो पद्धति बता रहे हैं वह उन लोगों के लिए है जो मृत्यु के बाद कुछ पाने में नहीं, इसी जीवन में पुरुषार्थ द्वारा लक्ष्य प्राप्ति में विश्वास रखते हैं, जो जिज्ञासु हैं, जुझारू हैं। उन्होंने चित्त पर असाधारण संयम प्राप्त नहीं कर लिया कि मृत्यु की विभीषिका के बीच भी शरीर मन बुद्धि की समस्त क्रियाओं पर पूर्ण नियंत्रण कर सकें। किंतु वे तकनीक सीखकर तदनुसार साधना कर के उस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए उत्सुक हैं। भगवान उस परम पद का वर्णन करके ही नहीं छोड़ देते बल्कि उसे पाने की पद्धति भी बताते हैं जिसे उपासना

कहते हैं। इस श्लोक में वे उपासना के विषय में दो मूलभूत आवश्यक बातें बता रहे हैं।

उस पद को, जिसे वेदों में अक्षर कहा गया है, पाने के लिए प्रयत्न करने वाले कौन हैं? वे हैं वीतरागी और ब्रह्मचारी। अर्थात् ये दोनों मूलभूत शर्तें हैं।

ब्रह्मचर्य का अर्थ है इन्द्रियों के स्तर पर संयम। वीतराग का अर्थ है मन का संयम। दोनों बातें एक दूसरे से गहरी गुंथी हुई हैं। इन्द्रियों को अपने विषयों के प्रति सहज आकर्षण होता ही है और वे मन को भी खींच ले जाती है। जैसे अच्छे भोजन की लालसा जीभ को होगी ही इसी लिए काम के वक्त भी मन मिठाई की दुकान में विचरता है। दूसरी ओर मन की भी कुछ पसन्द नापसन्द होती है जिन्हें राग द्वेष कहते हैं। वह इनके अनुसार इन्द्रियों को चराता है। मन का यही प्रयत्न रहता है कि शरीर उन्हीं व्यक्तियों वस्तुओं और विषयों के बीच रहे जो उसे अच्छे लगते हैं। इस प्रकार इन्द्रिय भूख मन को और मन के राग इन्द्रियों को अस्थिर करते रहते हैं।

जो ब्रह्मचारी है और वीतरागी है वही सबके बीच शांत रह सकता है। यहां एक बार पुनः उल्लेख कर देना चाहिए कि ब्रह्म प्राप्ति के लिए संसार और सांसारिक काम काज को छोड़ना कोई शर्त नहीं बताई गई है। विषयों का त्याग नहीं वरन् इन्द्रियों पर संयम हो, संसार का त्याग नहीं बल्कि उसके प्रति राग का त्याग हो। जो ऐसा कर सकता है वही गीता का आदर्श पुरुष है, वही परम पद का अधिकारी है।

ऐसे व्यक्ति की उपासना पद्धति क्या हो यह भगवान अगले दो श्लोकों में बताते हैं-

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ।।१२।।

सभी द्वारों को संयमित कर, मन का हृदय में निरोध कर, प्राणों को मस्तक में धारण कर योग का अभ्यास करे।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ।।१३।।

मेरा स्मरण रखता हुआ ॐ अक्षर का जप करते हुए जो देह को त्याग देता है वह मेरी गति को प्राप्त करता है।

इन दोनों श्लोकों में उपासना पद्धति का चरणबद्ध वर्णन है। पहला चरण है अपने समस्त द्वारों को संयमित करना। हमारे शरीर को नव द्वार का पुर कहा गया है। इसमें इन्द्रियों के रूप में नौ छिद्र हैं- दो आंखें, दो कान, दो नासिका रंध्र, एक मुख, एक गुदा तथा एक प्रजनन द्वार। इन्हीं नौ छिद्रों द्वारा जीव जगत के साथ समागम करता है। अतः पहला काम इन्हें संयमित करना है। इसीलिए उपासना के लिए शांत स्थल, शांत वातावरण, शांति का समय चुन कर आंख बंद करें। कान, नाक तथा अन्य कुछ छिद्र बंद नहीं किये जा सकते लेकिन इन इन्द्रियों के विचरण को रोक कर बैठें।

दूसरा चरण है मन का हृदय में निरोध। वेदान्त में हृदय का अर्थ रक्त पम्प करने वाला अंग नहीं है। यह तो मन का वह भाग है जहां दया, प्रेम, करुणा आदि के दिव्य एवं पवित्र भाव उपजते हैं। मन का हृदय में निरोध करने का अर्थ है पवित्र भावों को धारण करना। मन अपने स्थान में ही स्थिर रहे, इधर उधर न भटके।

उपासना का तीसरा चरण है प्राणों को मस्तक में धारण करना अर्थात् शरीर के अंदर की क्रियाओं को भी नियंत्रित करना। पहले चरण में तो बाहरी क्रियाएं रोकी गई थी अब श्वास आदि पर भी नियंत्रण रखें। सबसे आवश्यक है विचारों पर नियंत्रण। यह सब प्राणायाम आदि विभिन्न यौगिक क्रियाओं द्वारा भी सम्भव है। मन को विचारों के साथ बहने से रोकने का प्रयास करना चाहिए। अपने विचारों को साक्षी रूप में देखने का अभ्यास करने से विचार अवरूद्ध होते हैं। इनका विस्तृत वर्णन भगवान छठे अध्याय में ध्यान योग के अन्तर्गत कर चुके हैं। योग धारणा के बाद उपासना का अगला चरण है ॐ मंत्र का जाप तथा साथ-साथ परमात्मा का स्मरण चिंतन। इसका अर्थ है कि जप केवल वाणी से न हो, सम्पूर्ण चेतना के साथ हो। वैसे तो जो शब्दों से परे है उसे हम राम कहें या कृष्ण, अल्लाह, खुदा, गॉड, शिव, विष्णु किसी

भी नाम से पुकार लें, क्या फर्क पड़ता है किंतु वेदान्त में ॐ अर्थात् प्रणव के उच्चारण का विशेष महत्व बताया गया है। अन्य नाम तो अपनी-अपनी रुचि के अनुसार स्मरण की सुविधा के लिए हैं। इसी लिए शिव का स्मरण ॐ नमः शिवाय, विष्णु का स्मरण ॐ नमो नारायणाय, कृष्ण का स्मरण ॐ नमो भगवते वासुदेवाय कहकर करते हैं। शिव, नारायण या वासुदेव हमें उस रूप की याद दिलाते हैं जो हमें प्रिय हैं अतः इनमें हमारा मन अधिक रमता है जिससे एकाग्रता प्राप्ति में सुविधा होती है किंतु सबके साथ प्रणव है। ॐ के उच्चारण में तीन वर्ण हैं अ, उ, म्,। ये तीन वर्ण हमारी चेतना के तीन स्तर जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति की अवस्था को इंगित करते हैं। इनके ऊपर चन्द्र बिन्दु है जो इनसे परे चौथी अवस्था को इंगित करता है जिसे तुरीयावस्था कहते हैं। यहां न तो जागृत और स्वप्नावस्था की हलचल है न सुषुप्ति की अनुभव शून्यता। यह तो चेतना का उच्चतम स्तर है। उपासक को चाहिए कि केवल मुख से उच्चारण न कर अपनी सम्पूर्ण चेतना को केन्द्रित करें और इन तीनों अवस्थाओं से ऊपर उठने का प्रयास करें।

भगवान कहते हैं कि ऐसा करने वाला उपासक देह को त्याग कर परम गति को प्राप्त होता है। यहां देह त्याग का अर्थ लौकिक मृत्यु नहीं। जैसे स्वप्नावस्था को त्यागकर जब हम जागते हैं तो शेर से अपने को बचाने के लिए दौड़ते हुए स्वप्न पुरुष से हमारा तादात्म्य समाप्त हो जाता है, हमारा स्वप्न जगत छूट जाता है, हमें वह मिथ्या लगने लगता है उसी प्रकार जब हम सम्पूर्ण चेतना के साथ प्रणव का जप करते हैं तो तुरीयावस्था में पहुंचते हैं जहां देह के प्रति आत्मबुद्धि का त्याग हो जाता है। सारे आकार पीछे रह जाते हैं। सारे विचार अर्थात् तीनों गुण-सत्व, रजस्, तमस् के भाव लुप्त हो जाते हैं। चेतना, जो अब तक शरीर के विभिन्न स्तरों पर प्रकट हो रही थी वह शरीर को छोड़ देती है। शरीर का यह त्याग ही अहंकार का त्याग है। यही जीव भाव का अंत है। यही जीवात्मा का परमात्मा में लीन होना है। यही निर्गुण निराकार ब्रह्म की प्राप्ति है।

निर्गुण निराकार ब्रह्म की यह उपासना पद्धति अत्यन्त श्रम साध्य है और दीर्घकालिक भी। अर्जुन के चेहरे पर कुछ उत्साहहीनता का भाव प्रकट हुआ होगा इसलिए भगवान कहते हैं- घबराओ नहीं, एक और इससे सुगम मार्ग मैं तुम्हें बताता हूं:-

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ।।१४।।

जो अनन्यता के साथ नित्य मेरा सतत स्मरण करता है उस नित्ययुक्त योगी के लिए मैं सुलभ हूं।

न अन्यता- कोई अन्य नहीं अर्थात् 'मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई' का भाव जब हृदय में आ जाता है तो फिर उसे कोई कठिन साधना करने की आवश्यकता नहीं, उसके लिए भगवान सुलभ हैं। वे उसे योगी की पदवी दे रहे हैं। योगी वह है जिसका परमात्मा से योग हो। जिसके हृदय में सतत् भगवान का चिंतन चलता रहे वह साधारण योगी नहीं, नित्ययुक्त यानि नित्ययोगी है।

अपने लौकिक जीवन में ही देखें। हमारे चारों ओर अनेक वस्तुएं, अनेक व्यक्ति, सगे सम्बंधी मित्र आदि रहते हैं। उन सबके साथ हमारा सम्बंध और व्यवहार मिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। अपने अधीनस्थ के साथ हम तनिक अहंकार पूर्वक अकड़कर बातें करते हैं। किसी के साथ समानता का व्यवहार है। किसी के प्रति दया का व्यवहार है। उसके लिए हम कुछ करते हैं तो हमें संतोष या अहंकार होता है 'मैंने फलां के लिए स्वयं तकलीफ उठाकर भी अमुक काम किया है।' लेकिन कोई ऐसा भी है जिसे हम बहुत प्यार करते हैं। उसके लिए आधी रात को भी उठकर कुछ करना पड़े तो हमें तकलीफ नहीं खुशी होती है। जो वस्तु हमें बहुत पसन्द है वह उसे देकर हम और अधिक प्रसन्नता का अनुभव करते हैं। 'मैंने त्याग किया' का अहंकार मन में आता ही नहीं। और यदि कोई ऐसा है जो इतना अपना लगता है कि हम सोचते हैं-'बस मेरे लिए तो जो कुछ है यही है। इसके सिवा मेरा और कौन है अपना।' तब तो फिर कहना ही क्या? हम हर समय उसे प्रसन्न देखने के चक्कर में रहते हैं, या उसके सपने देखते हैं और ऐसे खो जाते हैं कि सुध-बुध भी नहीं रहती। नहाते-धोते-खाते-पीते भी जी उसी में पड़ा रहता है।

भगवान भी ऐसा ही सम्बंध चाहते हैं हमसे। हमें वे अपने लगें। इतने अपने कि बाकी सब कुछ तुच्छ लगने लगे। जैसे मीरा बाई को लगते थे।

जैसे पाण्डवों को लगते थे, जैसे गोपियों को, ग्वाल बालों को लगते थे। अर्जुन के लिए भी उनसे बढ़कर जीवन में दूसरा कोई नहीं था। इसलिए पाण्डव को उन्हें पाने के लिए तप कहां करना पड़ा? एक साधारण अस्त्र की प्राप्ति के लिए वह वर्षों तपस्या करता था लेकिन कृष्ण तो वन की कुटिया में जब देखो तब हाजिर ही रहते थे मानों उन्हें कोई दूसरा काम ही न हो।

इसमें अनन्यता का भाव महत्वपूर्ण है। अनन्यता आने पर ही नित्य स्मरण रह सकता है। हम भगवान को भी चाहे और संसार की भी मनुहार करते फिरें, धन में भी जी अटकाएं रखें, यह नहीं चल सकता। तब तो पूजा घर में ही बैठकर भगवान का स्मरण होगा (उसमें भी शक ही है) सतत् तो हो ही नहीं सकता। लेकिन यह मान लें कि मेरे लिए तो सबसे महत्वपूर्ण कन्हैयालाल ही हैं तो धन कमाने वक्त भी उनका स्मरण बना रहेगा, इसके लिए प्रयत्न तो करना दूर, हम जान ही नहीं पाएंगे कि हम कुछ विशेष कर रहे हैं। अवचेतन मन में वही बैठा रहेगा, ऊपर से हम कुछ भी करते रहें। इस विषय में आगे नवें अध्याय में भी भगवान बताएंगे कि जो अनन्यता के भाव से मुझे भजता है उसके योग क्षेम का जिम्मा मैं लेता हूं।

प्रेम की यह गली जितनी सुगम जान पड़ रही है उतनी ही दुर्गम है। दुर्गमता इसी अनन्यता की है जिसे कबीर ने इन शब्दों में व्यक्त किया है –'प्रेम गली अति सांकरी जामे दो न समाय' इसमें तो केवल भगवान ही समा सकते हैं। आपके स्वयं के लिए भी स्थान नहीं। यहां तो 'जब मैं था तब तू नहीं, अब तू है मैं नाहिं।' सारी साधना उपासना जो पहले के श्लोकों में बताई गई थी वह भी तो 'मैं' के त्याग के लिए ही थी। यदि इसी प्रकार 'मैं' का त्याग हो जाए तो अपना काम तो बन ही गया।

क्या काम बना? क्यों इस संकरे प्रेम पथ पर चलें या कठोर साधना करें?

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ।।१५।।

महात्मा लोग मुझे प्राप्त करके दुःखालय और अशाश्वत पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होते क्योंकि वे परम सिद्धि को प्राप्त हो जाते हैं।

यहां स्पष्ट हो जाता है कि सगुण साकार की उपासना का फल भी वही है जो निर्गुण निराकार की उपासना का। परमात्मस्वरूप श्रीकृष्ण में तन्मयता प्राप्त करना ही उन्हें पाना है और उन्हें पाना ही परम गति को पाना है। यही परम सिद्धि है- दुखों का अन्त।

वेदान्त मृत्यु को दुखदायी नहीं मानता। वह तो केवल चोला बदलना हैं। मृत्यु तो एक लम्बी यात्रा के लिए एक चरण का अन्त मात्र है। कितना अच्छा हो कि यह चरण आखिरी चरण साबित हो, हमें दुबारा जन्म लेना पड़े। जब मनुष्य का जन्म मिल ही गया है तो क्यों न इस सुअसवर का भरपूर उपयोग करें और पुनर्जन्म के चक्कर से बचें। पुनर्जन्म किसी भी योनि में क्यों न हो, कष्ट तो उठाने पड़ेंगे ही इसी लिए इसे दुःखालय अर्थात् दुःख का आगार कहा गया है। दूसरी बात यह है कि अशाश्वत भी है। कोई भी योनि स्थायी रहने वाली नहीं। एक के बाद दूसरी और फिर तीसरी योनि में भटकना ही पड़ेगा यदि हम अभी से अपने जीवन को सावधानीपूर्वक नहीं जिएंगे।

सोच समझ कर हम अपने जीवन की रूपरेखा बनाएं, भक्ति या साधना का मार्ग चुनें तो हो सकता है कि इसी जन्म में हमें इन दुःखों से मुक्ति यानी परम सिद्धि मिल जाए या सीधे नहीं भी मिले तो क्रम मुक्ति भी हो सकती है जिसका वर्णन आगे आएगा। इसमें सीधे परमात्मा की प्राप्ति न होकर हम किसी ऊंचे लोक में जाएंगे और फिर कालान्तर में मुक्ति को प्राप्त करेंगे।

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ।।१६।।

हे अर्जुन, ब्रह्मलोक तक सभी पुनरावर्ती है, परन्तु हे कौन्तेय! मुझे प्राप्त होने पर पुनर्जन्म नहीं होता।

ब्रह्मा जी के लोक तक के सभी लोकों तक से वापसी सम्भव है लेकिन जो परमात्मा को जान लेता है उसकी इस मर्त्य लोक में वापसी नहीं होती। गीता का यह श्लोक उपनिषदों में वर्णित क्रम मुक्ति के बारे में बताता है। हमारे उपनिषद् कहते हैं कि मनुष्य साधना के द्वारा इसी जीवन में भी

मुक्ति पा सकता है या उसे विभिन्न धरातलों में विचरण करना पड़ सकता है और कालान्तर में मुक्ति भी पा सकता है या वापस इसी मृत्युलोक में जन्म लेने को भी विवश हो सकता है।

यहां भगवान ने ब्रह्मा जी के लोक की बात कही है। इस श्लोक के बाद अन्य कुछ श्लोकों में भी ब्रह्मा जी का नाम आया है। ब्रह्मा जी कौन हैं, इसका विस्तृत विवरण उपनिषदों में आता है। गीता तो उपनिषदों का ही दूध है। यहां हम भी संक्षेप में ब्रह्मा जी के बारे में कुछ समझ लें।

हम सभी ब्रह्मा जी को सृष्टि के रचयिता के रूप में जानते हैं। वे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के निर्माता हैं। हम सब जानने को उत्सुक रहते हैं कि यह सृष्टि कैसे बनती है? कैसे इसका संहार होता है? किंतु इस विशाल ब्रह्माण्ड में हमारी हैसियत ही क्या है? हम तो विशाल समुद्र तट की अथाह बालू के एक कण के बराबर भी नहीं। फिर इस ब्रह्माण्ड की संरचना को सम्पूर्णता के साथ कैसे समझ पाएंगे?

लेकिन हमारा अपना-अपना भी एक व्यक्तिगत संसार है जिसके निर्माता हम स्वयं हैं। यदि हम संसार की रचना और उसमें अपनी भूमिका को ठीक-ठीक समझ लें तो पूर्ण ब्रह्माण्ड और ब्रह्मा जी को समझना कुछ आसान हो जाएगा क्योंकि जो पिंड में है वही ब्रह्माण्ड में है, जो व्यष्टि में है वही समष्टि में है जैसे परमाणु जल के एक अणु में जैसे हैं वैसे ही अथाह सागर में।

एक कमरे में पति, पत्नी और बच्चा लेटे हुए हैं। यह उसका सम्मिलित संसार है जिसमें वे अभी स्थूल रूप से हैं। किन्तु लेटे-लेटे पति अपने व्यापार के बारे में सोच रहा है पत्नी कल आने वाले मेहमानों के बारे में, और बच्चा खिलौने के बारे में। यानी बाहरी जगत एक होते हुए भी वैचारिक जगत भिन्न-भिन्न है। हर व्यक्ति के संसार में केवल बाहरी वस्तुएं ही नहीं, उसके विचार भी सम्मिलित है।

मानव व्यक्तित्व को तीन भागों में विभक्त किया गया है-

१. **स्थूल शरीर** यानी अस्थि मांस मज्जा से बनी यह देह जिसके द्वारा हम बाहरी जगत में विचरण करते हैं और भोग करते हैं।

२. **सूक्ष्म शरीर** जो मन बुद्धि से बना है। यहां हमारे विचारों की उत्पत्ति होती है जिनके अनुसार स्थूल शरीर कार्य करता है।

३. **कारण शरीर** जो हमारी वासनाओं का पुंज है। यही वासनाएं सूक्ष्म शरीर में विचारों के रूप में व्यक्त होती है। यही सभी क्रियाओं का कारण है अत: इसे कारण शरीर कहते हैं।

ये तीनों शरीर तभी तक कार्य करते हैं जब तक चेतना या आत्मा है जो ब्रह्म का स्वरूप है। अब देखें कि निजी संसार यानी व्यष्टि जगत का निर्माता कौन है? इसका कारण है वासनाएं और निर्माता है मन। वैवाहिक सुख भोग की वासना ने मन में विवाह का विचार जगाया और इस विचार ने ही मेरा विवाह कराया जिससे मेरी गृहस्थी बनी। इसी प्रकार और भी जो कुछ मेरे इर्द-गिर्द है उसका निर्माण करने वाला मेरा मन ही है। संक्षेप में व्यष्टि जगत का निर्माता व्यष्टि मन है। अब एक सामूहिक जगत को समझें। जब कुछ लोग एक खास उद्देश्य अर्थात् खास विचार से एक जगह जुटते हैं एक खास प्रकार के संसार का निर्माण हो जाता है। यह सत्संग भी हो सकता है, क्लब भी, आफिस भी, जुआघर भी। यह संसार कैसा होगा यह इस बात पर निर्भर करता है कि इन सभी लोगों का विचार क्या है। वे क्या चाहते हैं यानी इस सामूहिक जगत का निर्माता सामूहिक मन है, जो सामूहिक वासना के अनुसार जगत का निर्माण करता है।

इसी प्रकार हम कहते हैं कि फलां परिवार की मानसिकता ही प्रगतिवादी है, फलां शहर के लोगों की मानसिकता ही ओछी है। इसी प्रकार राष्ट्रीय मानसिकता, राष्ट्रीय सोच की बातें की जाती है और कहा जाता है कि नव निर्माण के लिए राष्ट्रीय सोच को बदलना होगा।

ठीक इसी प्रकार समष्टि जगत को लें। सबकी वासना को मिलाकर समष्टि वासना बनी है। सबके मन को मिलाकर समष्टि मन बना है। यह समष्टि मन ही अपनी मानसकिता के अनुसार इस सम्पूर्ण दृश्यमान जगत का निर्माणकर्ता है। इसे ही हमारे शास्त्र हिरण्यगर्भ या ब्रह्मा जी कहते हैं। हिरण्यगर्भ का अर्थ है सबका गर्भ अर्थात् जिसने सबको जन्म दिया है।

हम संसार को बुरा बताते हुए विधाता को दोष देते हैं लेकिन वह सातवें आसमान पर बैठा कोई व्यक्ति नहीं है। संसार जैसा है वैसा इसलिए

है कि समष्टि वासना वैसी है। यदि अधिकांश लोगों की विचार प्रणाली बदल जाए तो संसार अपने आप बदल जाएगा। ब्रह्मा जी को दोष देने से कोई लाभ नहीं।

इस श्लोक में भगवान ने जो बात कही है कि ब्रह्मा जी के लोक तक पहुंचने के बाद भी जीव इस मर्त्य जगत में वापस आ सकता है यह बात और तीन श्लोकों बाद उन्नीसवें श्लोक में पूरी तरह समझ में आएगी जब हम ब्रह्मा जी के लोक के बारे में और भी कुछ जान पाएंगे।

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ।।१७।।

जो ब्रह्मा जी के एक दिन को एक हजार चतुर्युगी तक की अवधि वाला और रात्रि को भी एक हजार चतुर्युगी तक की अवधि वाला जानते हैं वे काल के तत्व को जानने वाले हैं।

ब्रह्मा जी की घड़ी मृत्युलोक की घड़ी से भिन्न गति से चलती है। दूसरे शब्दों में कहें तो सूक्ष्म जगत के काल की गति स्थूल जगत के काल की गति से भिन्न है।

पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि सभी प्राणियों के मन बुद्धि के पूंजीभूत स्वरूप को ब्रह्मा जी का नाम दिया गया है। ब्रह्मा जी अर्थात् समष्टि मन के काल की गति समझने के पहले हम व्यष्टि मन अर्थात् अपने ही मन की गति पर नजर डालें।

हमारा विचार है अमेरिका जाने का। हमने सारी योजना बनाई, पासपोर्ट बनवाया, वीसा बनवाया, धन का इन्तजाम किया, टिकट बनवाई, लम्बी यात्रा की। इस सबमें एक महीना लग गया। यह सारी भाग दौड़ कराने वाला है हमारा मन ही, किन्तु स्थूल शरीर को यह सब करने में एक महीना लग गया। लेकिन मन से तो हम एक क्षण में ही अमेरिका पहुंच कर वापस भी आ सकते हैं। अर्थात् स्थूल जगत के एक मास के बराबर मन का एक क्षण है। इसी प्रकार समष्टि मन के काल की गणना भी समष्टि विश्व अर्थात् स्थूल

संसार के काल से अलग पैमाने पर चलती है।

सत्य युग, त्रेता युग, द्वापर युग और कलियुग, इन चारों को मिलाकर एक चतुर्युगी बनती है। ऐसी हजार चतुर्युगी बीतने पर ब्रह्मा जी का एक दिन होता है और हजार चतुर्युगी की ही एक रात होती है।

सृष्टिकर्ता और उसके काल की गति बताने के बाद अब भगवान सृष्टि की रचना और संहार की प्रणाली बता रहे हैं :-

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ।।१८।।

दिन के प्रवेश काल में अव्यक्त से सभी व्यक्त भूतों की उत्पत्ति होती है। रात होने पर सभी व्यक्त पुनः उसी में लीन हो जाते हैं जिसे अव्यक्त कहते हैं।

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ।।१९।।

हे पार्थ! वही भूत समुदाय उत्पन्न होकर रात होने पर लीन हो जाता है और दिन के प्रवेश काल में फिर उदय हो जाता है।

इस विशाल ब्रह्माण्ड की सृष्टि, स्थिति और लय को समझने के पहले व्यष्टि जगत की सृष्टि, स्थिति और लय को ही समझ लें।

सृष्टिः- हम जो कुछ भी करते हैं, बनाते हैं उसका मूल कारण है हमारी वासनाएं। जन्म जन्मांतरों से संचित ये वासनाएं अव्यक्त हैं। हमें इसका आभास भी नहीं होता पर समय समय पर कभी कोई कभी कोई वासना व्यक्त होती रहती है। छोटे बालक-बालिकाओं को विवाह की वासना के बारे में कुछ पता ही नहीं होता। वे तो अपनी मां या पापा से शादी करना चाहते हैं पर युवावस्था आने पर अपने आप ही विवाह की वासना अभिव्यक्त होने लगती है। इसकी अभिव्यक्ति करने वाले हमारे मन और बुद्धि होते हैं। मन में हम इसे इच्छा के रूप में देखते हैं, बुद्धि उन्हीं के अनुसार योजनाएं बनाती है

और एक संसार का निर्माण हो जाता है। इस संसार को बनाया मन बुद्धि के विचारों ने और कारण है वासना जो मन बुद्धि को प्रेरित करती है। अर्थात् हमारा सूक्ष्म शरीर अव्यक्त वासना को स्थूल रूप में व्यक्त करता है। दूसरे शब्दों में- सूक्ष्म शरीर द्वारा अव्यक्त को व्यक्त करना ही संसार की सृष्टि है।

लयः- अब इस संसार के लय की प्रक्रिया को देखें। हमारा मन अभी कुछ सोच रहा है। वे विचार कार्यान्वित हो रहे हैं यानी एक स्थूल जगत का निर्माण हो रहा है। कुछ देर बाद वह कुछ और सोचने लगता है और हमारे कार्य, हमारा परिवेश सब कुछ बदल जाता है। घर के बदले हम आफिस में पहुंच गए। पिछला संसार कुछ देर के लिए समाप्त हो गया, नया संसार बन गया। इसमें कहीं कोई अफसोस, दुख या क्रूरता की बात नहीं है। इस प्रकार कुछ वासनाएं जो घर में व्यक्त हो रही थी अब पुनः अव्यक्त हो गई है और कालान्तर में पुनः व्यक्त हो जाएगी। यही लय और पुनर्निर्माण है।

जैसे कुछ लोग आश्रम में सत्संग के लिए एकत्र हुए। एक समूह बन गया, एक संसार बस गया। इस संसार का निर्माता सबका मन है। सभी के मन में इसी आश्रम में इसी समय एकत्र होने का विचार आया तभी यह परिवेश बना है। सब लान में दरी बिछाकर बैठते हैं और भजन करना आरम्भ करते हैं। अचानक बादल घिर आते हैं। सभी के मन में आता है कि पानी बरसने वाला है, अन्दर हाल में चलकर बैठना चाहिए। सब तुरन्त दरी वगैरह समेटकर हाल में पहुंच जाते हैं। वीरान खाली हाल आबाद हो जाता है। अब वहां भजन होने लगा। लान में 'सारा खेल खत्म' हो गया। यानी एक ओर संसार मिटा, दूसरी ओर बना। एक ओर प्रलय हुई, दूसरी ओर सृष्टि हुई। इस प्रलय और सृष्टि का कारण सामूहिक सत्संग वासना है। दो घंटे के बाद सत्संग खत्म हो जाएगा। सब की सत्संग वासना पुनः अव्यक्त हो जाएगी। सब अपने अपने घर चले जाएंगे और आश्रम का यह संसार विलीन हो जाएगा। फिर एक मास बाद शायद पुनः सब एकत्र हों और संसार बने। इस प्रकार अव्यक्त से व्यक्त और व्यक्त से अव्यक्त का सिलसिला चलता ही रहता है।

स्थितिः- अव्यक्त से व्यक्त और व्यक्त से अव्यक्त की यह स्थिति रहती दिन में ही है। रात होने पर मन बुद्धि भी कार्य करना बंद कर देते हैं। या यूं कहें कि जिस समय मन बुद्धि भी कार्य करना बंद कर देते हैं

तो उस काल को रात कहते हैं। रात में सारा जगत विलीन हो जाता है और पुनः दिन होने पर वही वासनाएं फिर से व्यक्त होना आरम्भ कर देती है। इसमें किसी का कोई वश नहीं है। यह तो होगा ही। वासनाएं भी वही है, बार बार वे ही व्यक्त हो हो कर पुनः पुनः संसार का निर्माण और संहार कर रही है। उसी अव्यक्त से बार बार व्यक्त की उत्पत्ति हो रही है। जब तक वासनाएं व्यक्त अवस्था में बनी रहती है तब तक उस संसार की स्थिति बनी रहती है।

इस प्रकार व्यष्टि जगत की सृष्टि स्थिति लय की क्रिया समझ में आ गयी तो ये दोनों श्लोक समझ में आ जाएंगे जो यह कह रहे हैं कि जब ब्रह्मा जी का दिन होता है तो अव्यक्त से सभी चराचर प्राणी व्यक्त होने लगते हैं और रात को पुनः लीन हो जाते हैं। भूत समुदाय वही है यानी संसार का पदार्थ वही है। वही बार बार उत्पन्न और विलीन होता रहता है। यह समष्टि वासना के कारण होता है। इसके लिए ब्रह्म जी भी अवश हैं।

इस प्रकार विधाता के स्थान पर अपने आप को रखकर जब संसार के खेल के बारे में सोचेंगे तो विधाता से करने वाली बहुत सी शिकायतें बंद हो जाएंगी। विधाता क्रूर नहीं लगेगा।

इस प्रकार सृष्टि और प्रलय को समझने के बाद हम पुनः सोलहवें श्लोक में चलें जहां भगवान ने कहा था कि ब्रह्मा जी के लोक तक सब लोक पुनरावर्ती हैं। अब हम जीव के पुनर्जन्म की प्रक्रिया समझ सकेंगे।

जीव के मन बुद्धि शरीर के माध्यम से वासनाओं को अभिव्यक्त करने का कार्य करते रहते हैं। जब शरीर (अयोग्यता के कारण) छूट जाता है तो भी यह सूक्ष्म शरीर अस्तित्व में रहता है जैसे नाटक की समाप्ति के बाद राणा प्रताप की पोशाक खोल देने वाला अभिनेता राणा प्रताप के साथ समाप्त नहीं हो जाता। अभिनय क्षमता भी है, संवाद भी याद है लेकिन राणा प्रताप के रूप में व्यक्त होने लायक पोशाक नहीं है। पुनः जब पोशाक पहन ली जाएगी तो राणा प्रताप फिर व्यक्त हो जएगा। या यह भी हो सकता है कि वह अभिनेता अगले दिन शिवाजी की पोशाक धारण कर शिवाजी का नाटक खेलें। इसी प्रकार जब इस सूक्ष्म शरीर ने वह शरीर धारण किया था तो जीव की उत्पत्ति (सृष्टि) हुई थी। अब वासनाएं हैं, सूक्ष्म शरीर भी है लेकिन कोई

उपकरण नहीं जिसके माध्यम से ये अव्यक्त वासनाएं व्यक्त हो सके। पुनः नया शरीर धारण कर ये वासनाएं फिर से व्यक्त हो सकती हैं। यही पुनर्जन्म है। यही ब्रह्मा जी के लोक के बाद पुनः मृत्युलोक में आना है।

स्थूल शरीर ही बदलता हो ऐसी बात नहीं। ये अव्यक्त वासनाएं भी जब व्यक्त होती है तो उनमें भी परिवर्तन आता है। कुछ समाप्त होती हैं, कुछ कम या अधिक होती हैं। तब क्या इन वासनाओं के परे भी कुछ है? यदि हां, तो वह कैसा है?

परस्तस्मात्तु भावोन्योऽव्यक्तो व्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ।।२०।।

उस अव्यक्त से भी अति परे दूसरा जो सनातन अव्यक्त भाव है वह सब भूतों के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता।

विज्ञान भी कहता है और हम प्रतिदिन के जीवन में भी समझ सकते हैं किसी भी परिवर्तन का अनुभव तभी हो सकता है जब कोई अपरिवर्तन शील सत्ता हो। जैसे पृथ्वी घूम रही है, हम उसी पर हैं लेकिन हमें पता नहीं चलता क्योंकि हम भी उसी के साथ उसी गति से घूम रहे हैं। दो रेलगाड़ी यदि साथ साथ बिलकुल एक गति से चले तो लगने लगता है कि रेल रुकी हुई है। यदि हमारे बगल की रेल तेज गति से चलने लगती है तो हमें लगने लगता है कि हमारी रेल उल्टी दिशा में चल रही है। इसे सापेक्षता कहते हैं। पर्दे पर हम फिल्म देखते हैं। फिल्म और कुछ नहीं बस प्रकाश के आने जाने या बदलने का खेल है। लेकिन यदि पर्दा स्थिर न हो तो क्या हम यह बदलाव देख पाएंगे? एक के बाद दूसरा, तीसरा शो चलता रहता है। आंधी आती है, पानी बरसता है लेकिन पर्दा न फटता है न भीगता है।

हमारे शरीर में भी परिवर्तन होता रहता है, मन के विचार भी बदलते रहते हैं, वासनाएं व्यक्त से अव्यक्त और अव्यक्त से व्यक्त होती रहती है और हमें इन सबका ज्ञान है। हमें पता है कि बचपन में मां की गोद के लिए रोया करते थे, हम बहुत नटखट और चंचल थे किंतु अब तो भाग दौड़ करना अच्छा ही नहीं लगता। हमें पता है कि कुछ देर पहले हमें रसगुल्ला खाने

की इच्छा हुई थी, हम मिठाई की दुकान पर गए। रसगुल्ला तो ताजा नहीं था लेकिन गुलाब जामुन गरम गरम बनकर आया ही था। उन्हें देखकर हमारे मुंह में पानी भर आया था।

शरीर मन बुद्धि और व्यक्त वासना के भी इन खेलों को हम कैसे समझ पाए? क्योंकि इन सब परिवर्तनों के बीच 'मैं' वही हूं। बचपन, जवानी, बुढ़ापे के असंख्य परिवर्तनों के बीच 'मैं' वही रहता हूं। यह 'मैं' ही वह दिव्य परम पुरुष है जो इन सब परिवर्तनों के अति परे है, सनातन है। यह सारे परिवर्तनों का साक्षी और अपरिवर्तनशील तत्व है।

यहां तक तो बात समझ में आती है लेकिन इस श्लोक की दूसरी पंक्ति में कहा गया है कि सभी भूतों के नष्ट होने पर भी यह दिव्य पुरुष नष्ट नहीं होता। लेकिन मुझे तो लगता है कि हार्ट अटैक हुआ तो मैं मर जाऊंगा। इस पहेली को हम अगले श्लोक में हल करेंगे।

अव्यक्तोक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ।।२१।।

जो अव्यक्त 'अक्षर' नाम से कहा गया है उसी अक्षर को परम गति कहा जाता है वहां पहुंच कर कोई वापस नहीं आता। वह मेरा परम धाम है।

वासना भी अव्यक्त है और दिव्य पुरुष भी अव्यक्त है। दोनों का भेद स्पष्ट करने के लिए अव्यक्त दिव्य पुरुष को अक्षर कहा गया है क्योंकि वासना परिवर्तनशील है तथा उसका क्षय होता है। दिव्य पुरुष का क्षय नहीं होता।

यहां फिर पिछले श्लोक वाली पहेली का दुहरा लें कि पुरुष मरता तो है ही, फिर अक्षर कैसे कहा गया? अक्षर पुरुष कुछ और होता होगा। हमारा 'मैं' और अक्षर पुरुष, ये दोनों भिन्न भिन्न हैं।

दूसरा प्रश्न एक और उठ खड़ा हुआ है। यदि 'मैं' ही वह दिव्य पुरुष हूं तो फिर यह मेरी परम गति कैसे हुई? मैं तो मैं हूं ही, फिर जाना कहां है? मैं तो वहीं जा सकता हूं जहां मैं अभी नहीं हूं। मैं दिल्ली जा सकता हूं, बम्बई जा सकता हूं पर मैं 'मैं' कैसे जाऊंगा? इसी तरह भगवान दिव्य

पुरुष को प्राप्त करने की यह जो बात बार बार कह रहे हैं तो फिर प्रश्न उठता है कि मैं तो 'मैं' हूं ही। फिर इसे प्राप्त करने के लिए साधना की बात कहां आई? मैं अपने आप को क्या प्राप्त करूंगा?

इन सब प्रश्नों के उत्तर आपस में गुथे हुए हैं। हम समझते हैं कि हम अपने आप को, यानी अव्यक्त परम पुरुष को जानते हैं लेकिन वास्तव में हम इसे ठीक से जानते नहीं। इसी लिए भ्रम होता है कि 'पुरुष मर गया।' अपने आप को दिव्य पुरुष के रूप में हमने सचमुच कभी जाना कहां है? दूसरों के सामने कितना ही ठाठ बाठ दिखा लें, खुद ईमानदारी से अपने को देखते हैं तो इतनी ग्लानि होती है कि क्या कहा जाए।

अपने इस पुरुष को सम्पूर्णता के साथ जान लेना ही इसे पाना है। 'यह अक्षर है, दिव्य है, सनातन है और सभी प्राणियों में एक ही है, यही परमात्मा है' यह केवल पढ़ा या सुना हुआ ज्ञान न रहे अनुभवजन्य विज्ञान बन जाए इसी के लिए साधना करनी पड़ती है। तब हमें लगेगा कि हमने पा लिया। और इस 'पाने' के बाद संसार के मोह शोक हमें व्याकुल नहीं करेंगे। भगवान जब कहते है- ''यह मेरा परम धाम है जिसे पाकर कोई वापस नहीं लौटता'' तो उनका अभिप्राय यही है कि यह अखण्ड आनन्द की अवस्था की प्राप्ति है जिसका ज्ञान होने के बाद संसार शोकमय नहीं रह जाता। अभी यदि मैं कहती हूं कि मैं अपने आप को अच्छी तरह जानती हूं तो यह मेरा भ्रम है। अच्छी तरह जानती तो यह कभी नहीं सोचती कि मैं मर जाऊंगी।

इस 'मैं' की अक्षरता यनि जीवात्मा और परमात्मा की एकरूपता को वेदान्त में किस प्रकार समझाया गया है यह देखना यहां प्रासंगिक होगा। इस सुपरिचित उदाहरण को घटाकाश मठाकाश दृष्टान्त कहते हैं।

हमारे चारों और जो विस्तृत खाली स्थान है उसे हम आकाश कहते हैं। यह सर्वत्र है, सर्वव्यापी है और एक ही है। अब हमने मिट्टी का एक घट यानि घड़ा बनाया। इस महाकाश में ही यह घट बना और तब हमें घट में एक सीमित आकाश दिखलाई देने लगा। इसे घटाकाश कह लें। यह घटाकाश महाकाश से भिन्न नहीं है। आकाश था वही, लेकिन मिट्टी खड़ी हो गई तो सीमित घटाकाश लगने लगा। घड़ा फूट जाएगा तो घटाकाश मठाकाश पुनः एक हो जाएंगे। इससे घटाकाश का अंत नहीं हुआ। घड़े के चारों ओर चार

दीवारें खड़ी कर एक मठ यानि कमरा बना दिया जाए तो उसके अन्दर का मठाकाश महाकाश से भिन्न लगने लगेगा पर है नहीं। कमरे के बाहर भी घट पड़ा हो तो ज्ञानी व्यक्ति यही कहेगा कि जो घटाकाश है वही मठाकाश, वही महाकाश है।

यही सम्बंध जीवात्मा और परमात्मा का है। परमात्मा सर्वत्र है, सर्वव्यापी है और एक ही है। इसी में अलग अलग शरीर मन बुद्धि वासना की दीवारें हैं जिसके कारण यह परमात्मा अनेकानेक जीवात्माओं के रूप में प्रतीत होने लगता है। लेकिन यह भिन्न है नहीं इस जीवात्मा को हम 'मैं' समझने लगते हैं पर शरीर छूटने पर यह जीवात्मा नष्ट नहीं होगा बल्कि घटाकाश की भांति परमात्मा में मिल जाएगा। फिर कहीं नए शरीर मन बुद्धि के साथ मिल कर नया जीव बना देगा जैसे मठाकाश बना था। अभी जो भिन्न भिन्न जीवात्माएं हमें प्रतीत हो रही हैं वे भिन्न भिन्न नहीं। शरीर मन बुद्धि वासना की दीवारें भिन्न है। आत्मा वही है जो अक्षर है नित्य है, सनातन है।

ये सब बातें तर्क की दृष्टि से बड़ी ठोस लगती हैं। किसी बात को चाहें तो भी हम काट नहीं सकते। सबमें हमें 'हां हां! समझ गया, ठीक है, ठीक है' करना ही पड़ता है। लेकिन ईमानदारी से विचार करें। क्या इस तर्क को समझने के बाद हमारी मानसिकता में पहले से रंच मात्र भी परिवर्तन हुआ? नहीं। क्या हमारा मृत्यु भय दूर हुआ? नहीं। क्या हमारे मोह शोक ने हमें चिंता के दलदल में खींचना बंद किया? नहीं।

इसका अर्थ यह है कि कोरे शाब्दिक ज्ञान से हम परमात्मा के उस परम धाम तक नहीं पहुँच सकते जहां पूर्ण आनन्द है, जिसके लिए भगवान यह कह रहे हैं ''यं प्राप्य न निवर्तन्ते।''

तो फिर क्या करें हम? कैसे पहुँचे इस परम धाम तक? कैसे पाएँ (जानें) उस दिव्य पुरुष को जो हममें भी है, दूसरे प्राणियों में भी है, अन्दर भी है, बाहर भी हैं। भगवान रास्ता बताते हैं–

पुरुष स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ।।२२।।

हे पार्थ, सभी प्राणी जिसमें स्थित है, जो सबमें व्याप्त है वह परम पुरुष तो अनन्य भक्ति से ही प्राप्त होने योग्य है।

आकाश के समान यह परम पुरुष सबमें व्याप्त है, इसी में सारा चराचर जगत स्थित है फिर भी हम इसको समझ नहीं पा रहे, देख नहीं पा रहे। हमारी इंद्रियां और मन बुद्धि भेद के द्वारा ही किसी वस्तु को पहचानती है। हम छाया देखते हैं, अधंकार देखते हैं तो हमें प्रकाश का ज्ञान होता है। यदि सर्वत्र और सदा प्रकाश ही रहे, हमने कभी अंधकार देखा ही न हो और हमें कहा जाय कि प्रकाश कुछ है जिसके कारण ही हम देख पा रहे हैं तो हमें कुछ भी समझ में नहीं आएगा। परम पुरुष के बिना कुछ भी कहीं भी है ही नहीं। मच्छर में भी वही, हाथी में भी वही, पत्थर में भी वही, हममें भी वही, हमारे मित्र में भी वही, हमारे शत्रु में भी वही, हमारे अंदर भी वही, हमारे बाहर भी वही। कैसी विडंबना है कि फिर भी हम उसे खोज रहे हैं।

वास्तव में खोजना क्या उसे जो सब जगह है। 'मैं वही हूं' यह अनुभव करना है। इस परम पुरुष के साथ तादात्म्य करना है। अभी हमारा मन बाहर भटक रहा है, इंद्रियां भी दूसरी वस्तुएं देख रही है। इंद्रिय मन बुद्धि अपने आप को देखने लगे तो हमारी पहचान अपने आप से यानी इस परम पुरुष से होगी।

अब देखें कि तादात्म्यता कैसे होती है। एक तो बहुत लम्बे काल तक संपर्क हो तो कुछ तादात्म्यता हो जाती है। हम सिनेमा देखते हैं, तो देखते-देखते हमारी तादात्म्यता हीरो-हीरोइन से हो जाती है। उनके जरा से दुख में हम भी दुखी होने लगते हैं। उनके सुख में हम भी सुखी होते हैं। हीरो का एक्सीडेन्ट होते-होते बचता है तो हम चैन की सांस लेते हैं।

लेकिन असली तादात्म्यता तो होती है प्रेम से। सिनेमा में भी विलेन से हमारी तादात्म्यता नहीं होती क्योंकि हम उससे घृणा करते हैं। जिससे हमारा प्रेम जितना अधिक होगा, हमारी तादात्म्यता उतनी ही अधिक और सहज होगी। हमें प्रयास नहीं करना पड़ता। बच्चे को चोट लग जाए और मां को पीड़ा न हो ऐसा नहीं हो सकता। बेटा यूनिवर्सिटी में प्रथम आ जाए और पिता का सीना न तने? उसे तो गर्व करने के लिए नहीं, गर्व को छुपाने के लिए भले

प्रयास करना पड़े। प्रिय के साथ तादात्म्यता तो ऐसी होती है कि उसके मृत शरीर का भी हम जतन करते हैं। एक व्यक्ति अपने पिता का अग्नि संस्कार कर रहा था। मृतक का हाथ चिता से बाहर निकल आया। दूसरा व्यक्ति डंडा लेकर हाथ को अन्दर करने लगा। तुरंत उसने कहा-'धीरे! भाई धीरे।'

प्रेम से बढ़कर तादात्म्यता का दूसरा सरल उपाय है ही नहीं। खाता वह है तृप्त हम होते हैं। कमाता वह है, खुश हम होते हैं। किंतु संसार की वस्तुओं और व्यक्तियों के प्रति यह प्रेम वास्तव में अपनी पसंद नापसंद (राग द्वेष) या अपने कुछ हानि लाभ (स्वार्थ) से जुड़ा हुआ होता है। प्रेम का यह रूप आसक्ति है।

यही प्रेम जब भगवान की ओर मुड़ जाता है तो भक्ति बन जाता है। प्रेम की धारा जब भगवान की ओर मुड़ती है तो वर्तमान में शरीर मन बुद्धि के आकर्षण का केन्द्र बनी सभी वस्तुएं, सभी व्यक्ति पीछे रह जाते हैं। इन सबसे हमारा राग द्वेष, हमारा मोह, हमारा प्रेम, हमारी तादात्म्यता पीछे छूटती जाती है। बस 'मैं हूं और वह है' का भाव जागता है और धीरे-धीरे 'वही है, वही है' से होते हुए 'मैं वही हूं' में परिणत हो जाता है। अद्वैत के इस भाव में वह परम पुरुष हमें 'मिल जाता' है। ऐसा मिलता है कि फिर कभी नहीं बिछुड़ता, अर्थात् संसार की वस्तुओं में हमारी तादात्म्यता कभी नहीं होती। अभी जैसे हम क्षण-क्षण जीते मरते हैं, कभी जान में जान आ जाती है, कभी जान चली जाती है, वह सब बंद हो जाता है।

इस प्रकार भगवान ने अपना अक्षर स्वरूप बता दिया, उसे पाने के लिए कौन सी पूंजी चाहिए यह भी बता दी। अब वे और क्या बताएंगे? आइए देखें।

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ।।२३।।

हे भरत श्रेष्ठ अर्जुन! किस काल में प्रयास करता योगी वापस नहीं लौटता और किस काल में वापस लौटता है, वह मैं तुम्हें कहूंगा।

भगवान पहले ही बता चुके हैं कि ब्रह्म लोक तक पहुंचने वाले का भी वापस लौटना संभव है, किन्तु मुझ तक पहुंचने वाले वापस नहीं लौटते। स्पष्ट है कि दो भिन्न-भिन्न पथ हैं। एक पर वे चलते हैं, जिन्हें सुख-भोग की कामना है। इस लोक में रहें या परलोक में जाएं, बुरे कर्म करने पड़ें या अच्छे कर्म करें, उनका उद्देश्य यही रहता है कि उन्हें सुखमय जीवन मिले। सुख का अर्थ आराम, ठाठ-बाट और मनचाही वस्तु की प्राप्ति है। इस पथ पर चलने वाले अच्छा कार्य या भगवान का नाम स्मरण भी करते हैं तो 'पुण्य' कमाने के उद्देश्य से, ताकि भविष्य में सुख मिल सके। इस प्रकार उनका यह पुण्य उनकी पूंजी बन जाता है। सुख-भोग में यह पूंजी खर्च हो जाती है और फिर उन्हें पुरानी दशा में वापस लौटना पड़ता है ताकि वे और पुण्य कमा सकें। इस प्रकार इस पथ के राही का कस्बे के व्यापारी के समान बड़े शहर आना-जाना लगा रहता है।

दूसरे पथ पर वे चलते हैं जिन्हें दैहिक सुख अथवा यश-कीर्ति आदि किसी भी सांसारिक उपलब्धि की कामना नहीं है। वे तो अपने ही स्वरूप को जानना और दिव्य परम पुरुष से तादात्म्य करना चाहते हैं। इनका लक्ष्य पहले वालों से अलग है, अतः स्वाभाविक रूप से पथ भी अलग ही होगा।

भगवान वादा कर रहे हैं कि वे वापस लाने वाला मार्ग भी बताएंगे और वापस न लाकर सदा के लिए परम पद की प्राप्ति करा देने वाला मार्ग भी बताएंगे।

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ।।२४।।

अग्नि हो, ज्योति हो, दिन का समय हो, शुक्ल पक्ष हो उत्तरायण के छः मास हों। ऐसे में प्रयाण करने वाला ब्रह्मविद् ब्रह्म को प्राप्त होता है।

इस श्लोक का और अगले श्लोक का अर्थ कई टीकाकार बड़े ही शब्दिक रूप में ग्रहण कर लेते हैं। किंतु शाब्दिक अर्थ द्वारा गीता के गूढ़ तत्व को समझा नहीं जा सकता। गीता के कुछ श्लोकों का शाब्दिक अर्थ इतना अधिक अटपटा है कि स्पष्ट संकेत मिल जाता है कि इसके गूढ़ अर्थ

को समझना जरूरी है। जैसे दूसरे अध्याय में एक श्लोक आया था कि जब सबके लिए रात होती है तब मुनि जागता है जब सबके लिए दिन होता है तब मुनि के लिए रात होती है। इसी प्रकार यह श्लोक है जो कहता है कि दिन के समय मृत्यु हो, आग जलती रहे, उत्तरायण हो, शुक्ल पक्ष हो, सूर्य की ज्योति हो तभी मृत्यु होने से ब्रह्म की प्राप्ति होती है। कोई भी बुद्धिवादी इस बात को स्वीकार नहीं करेगा कि साल के छः महीने मुक्ति के हों छः महीने पुनर्जन्म के।

महाभारत और गीता के रचयिता महर्षि वेदव्यास जी ने गीता के गूढ़ अर्थों की व्याख्या के लिए ब्रह्म सूत्र लिखे थे। आदि गुरु शंकराचार्य ने ब्रह्म सूत्र पर भाष्य लिखा है जिनके अध्ययन से इन गूढ़ श्लोकों का अभिप्राय स्पष्ट होता है। छान्दोग्य उपनिषद्, प्रश्नोपनिषद् आदि में भी इन बातों का विस्तार मिलता है। हम संक्षेप में इन सबके आधार पर इन श्लोक का अर्थ देखें।

इस श्लोक में क्रम मुक्ति का मार्ग बताया गया है। उपनिषद् कहते हैं कि जो सत्कर्म के साथ उपासना करते हैं (जिसका वर्णन पिछले कुछ श्लोकों में किया गया है) वे देवयान अर्थात् देवताओं के मार्ग से ब्रह्म लोक जाते हैं। वहां वे दीर्घकाल तक आनंद का उपभोग करते हुए कल्प के अंत में ब्रह्माजी के साथ परमात्मा में समा जाते हैं। इसी देवयान को यहां अग्नि-ज्योति, दिन का समय, शुक्ल पक्ष आदि शब्दों द्वारा निर्देशित किया गया है।

वास्तव में यहां मुक्ति का मार्ग एक रूपक द्वारा समझाया गया है। रूपक में शाब्दिक अर्थ नहीं लिया जाता। जब कोई कहता है 'उसने घूंघट उठाया तो लगा चन्द्रमा निकल आया' तो हम यह अर्थ नहीं लेते कि घूंघट उठाने पर दिन के दो बजे ही रात हो गई। हम चन्द्रमा को सुन्दरता का प्रतीक मान कर उसी के अनुसार अर्थ ग्रहण करते हैं।

इसी प्रकार अग्नि कर्म और यज्ञ की प्रतीक है अर्थात् अंत समय में भी यह ज्वाला जलती रहनी चाहिए। सतत कर्तव्य करते हुए मृत्यु आ जाए तो धन्य है। सूर्य की ज्योति का अर्थ है बुद्धि की प्रभा अंत तक चमकती रहे। चन्द्रमा मन का देवता माना जाता है। शुक्ल पक्ष के चन्द्र की तरह मन में प्रेम, भक्ति, परोपकार आदि शुद्ध भावनाएं विकसित होती रहें। उत्तरायण उत्तर की ओर का पथ बताता हैं। साधारणतः उत्तर का अर्थ ऊपर की दिशा

और दक्षिण का अर्थ नीचे की दिशा लिया जाता है अत: उत्तरायण से उर्ध्वगति का बोध होता है। अंतिम सांस तक हाथ से कोई सेवा कार्य हो रहा है, भावना की पूर्णिमा चमक रही है, हृदयाकाश में जरा सी भी आसक्ति नहीं है, बुद्धि सतेज है- इस तरह जिसकी मृत्यु होगी उसे परमात्मा में मिला ही समझें।

अब दूसरा पथ बताते हुए भगवान कहते हैं-

धूमो रात्रिस्तथा कृष्ण: षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ।।२५।।

धुंआ हो, रात्रि हो, कृष्ण पक्ष हो, दक्षिणायन के छ: मास हों, ऐसे में शरीर छोड़कर गया हुआ योगी चन्द्रमा की ज्योति को प्राप्त करके लौट आता है।

वापसी वाले इस मार्ग को उपनिषदों में पितृयान कहा गया है और इसके अधिपति को चन्द्रदेव माना गया है। जिन्होंने जीवन पर्यन्त कर्म किए हैं लेकिन उन कर्मों में उपासना अर्थात् परम तत्व को पाने की साधना सम्मिलित नहीं होती उनकी गति इसी पथ से होती है। पिछले श्लोक में वर्णित योगी की तरह अंत काल में इनकी भावना पवित्र, बुद्धि प्रभायुक्त और हृदयाकाश आसक्ति रहित नहीं होता। मन पर अपनी धन सम्पति, कुटुम्ब, कबीले के प्रति रागद्वेष का धुंआ छाया रहता है, सुख भोग की लालसा इनकी बुद्धि की प्रभा को मलिन किए रहती है। ये लोग पितरलोक में निवास करते हैं जिसे हम साधारण भाषा में स्वर्ग कहते हैं। चूंकि इनकी अभिलाषा परम तत्व को जानने की न होकर सुख भोग की होती है अत: ये वापस इस कर्म लोक में आते हैं ताकि चाहें तो अपने उद्धार की प्रक्रिया नए सिरे से आरम्भ कर सकें। यहां दक्षिणायन से अभिप्राय निम्न गति है।

इस प्रकार दोनों पथ का वर्णन करने के बाद भगवान उपसंहार करते हुए कहते हैं:-

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगत: शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुन: ।।२६।।

शुक्ल और कृष्ण ये दोनों गतियां अनादि काल से जगत् के साथ सम्बंध रखने वाली है। इनमें से एक गति में जाने वाले को लौटना नहीं पड़ता और दूसरी गति में जाने वाले को लौटना पड़ता है।

भगवान तो करुणासिंधु हैं। जो जैसा भाव रखकर सत्कर्म या उपासना करता है वे उसे वैसा ही फल देते हैं। जो सांसारिक भोग चाहते हैं उसे सांसारिक भोग देते हैं, जो मृत्यु पर्यन्त पुण्य संचित कर मृत्यु के बाद उनके बदले सुख भोगना चाहता है उसे वे वैसा ही सुख देते हैं। जो सद्‌गति चाहता है उसे वे सद्‌गति देते हैं और जो उन्हें छोड़कर और कुछ भी नहीं चाहता, जिसके हृदय के समस्त प्रेम, समस्त कामनाओं का एकमात्र आलम्बन वे ही हैं उसे वे अपने आप को सौंप देते हैं। इस प्रकार एक मुक्ति का पथ है और एक संसार का। एक अलौकिक है दूसरा लौकिक।

लौकिक पथ पर वे चलते हैं जो समझते हैं कि जीवन का परम उद्देश्य रोटी, कपड़ा और मकान ही है। जीवन की सम्पूर्णता अधिक से अधिक भोगों में है। शरीर मन बुद्धि के सुख से परे किसी और दिव्य आनन्द के प्रति उनमें चेतना ही नहीं होती।

अलौकिक पथ पर वे चलते हैं जिनका हृदय संसार के भोगों के साथ उछलता नहीं, जिनकी बुद्धि सदा इनके परे किसी ऐसे दिव्य आनन्द की खोज में रहती है जो वस्तुओं भोगों पर आश्रित न हो। ये दोनों प्रकार के लोग जगत में सदा से रहते आए हैं इसीलिए दोनों पथ भी शाश्वत रूप से जगत में है।

अक्षर ब्रह्म के दिव्य स्वरूप और उसे पाने के मार्ग के बारे में भगवान ने पूर्ण विस्तार से बताया, लेकिन किसलिए? अर्जुन को यह सब जानकर क्या लाभ होगा कि किस लोक तक जाने वाला लौट सकता है और किस लोक तक जाने वाला लौटता नहीं? बच्चे को अच्छे बुरे की पहचान बताने के पीछे माता-पिता का उद्देश्य यही रहता है कि वे विवेक से काम लेकर अच्छे बच्चे बनें।

भगवान भी इसी प्रकार अर्जुन को उत्साह दिलाते हुए कहते हैं-

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ।।२७।।

इन दोनों पथों को जानने के बाद कोई योगी मोहित नहीं होता अत: हे अर्जुन, तुम हर काल में योग युक्त होओ।

एक पथ है जो सीमित सुख देता है, सीमित काल के लिए सुख देता है और दूसरा वह है जो शाश्वत और अनन्त सुख के धाम तक पहुंचता है। कोई भी व्यक्ति विचार पूर्वक समझ ले तो फिर भ्रमित हो कर वापस लौटने वाला पथ नहीं पकड़ेगा।

लेकिन फिर भी हम तो इसी पथ को पकड़े हुए हैं। हमें क्या मालूम नहीं कि शाश्वत सुख संसार की वस्तुओं में नहीं, वह तो आत्म ज्ञान में ही है? सच्चा सुख तो राम के नाम में हैं, संसार के रिश्ते-नाते सब झूठे हैं, तोते की तरह रटते रहते हैं लेकिन दौड़ और आपाधापी संसार के भोगों को समेटने के लिए ही रहती है।

इसका कारण यह है कि हम योगी नहीं हैं। हमारे मन बुद्धि युक्त नहीं हैं। बुद्धि कुछ कहती भी है तो मन उसके अनुसार चलने को राजी नहीं रहता, वह इन्द्रियों के चक्कर में फंस कर बाहरी जगत में भटकता है, अन्तर्मुखी होता ही नहीं इसीलिए भगवान ने इस श्लोक में 'योगी' शब्द का व्यवहार किया है। योगी मोहित नहीं होता। इसलिए भगवान कहते हैं कि अक्षर ब्रह्म के ज्ञान का लाभ उठाना है तो हे अर्जुन, तुम योगी बनो।

योगी का अर्थ भी आसन पर बैठकर प्राणायाम करने वाला नहीं। वह तो कुछ देर के लिए ही किया जा सकता है। ध्यान भी आवश्यक है, उसी के द्वारा हम अपने विचारों के जगत से ऊपर उठ सकते है पर यहां तो भगवान कह रहे हैं- सर्वेषु कालेषु योग युक्तो भव अर्थात् सब काल में योग युक्त होओ।

स्मरण रहे कि योग की परिभाषा देते हुए भगवान ने कहा था योग: कर्मसु कौशलम् अर्थात् कर्मों में कुशलता ही योग है। तात्पर्य यह है कि मंगलमय अंत के लिए रात दिन सावधान और दक्ष हो कर कर्म करें एक क्षण के लिए भी मन पर अशुभ संस्कार न पड़े ऐसी सावधानी रखें और ऐसे बल

के लिए प्रभु से प्रार्थना करते रहें। अन्त में भगवान कहते हैं-

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ।।२८।।

वेद अध्ययन, यज्ञ, तप और दान का भी जो पुण्य फल कहा गया है उन सबमें भी अधिक यह फल है जिसे जानकर योगी सनातन परम पद को प्राप्त होता है।

भगवान ने अर्जुन को अक्षर ब्रह्म का ज्ञान दिया और फिर पूरा रहस्य समझाया, दो पथ बताए, किस पथ पर चल कर ब्रह्म की प्राप्ति हो सकती है यह बताते हुए पिछले श्लोक में अुर्जन को इस पथ पर चलने को प्रेरित किया।

अचानक उन्हें लगा कि अर्जुन तो ऐसा राजकुमार है, जिसने बचपन से वैदिक कर्मकाण्ड देखे हैं। सत्कर्म का अर्थ जिसने यज्ञ, तप, दान आदि समझा है। स्वयं भी तप आदि करके कितनी उपलब्धियां (अस्त्र-शस्त्र) प्राप्त भी की है, इन सबसे एकाएक मुख कैसे मोड़ लेगा? बेकार की वस्तुओं को तो फेंक दें लेकिन संग्रहणीय वस्तु को कैसे फेंका जाए? उससे भी ऊंची कोई चीज दिखाई दे तो उसे पाने के लिए इसे छोड़ा जा सकता है। इन पुण्य फलों के आकर्षण से अर्जुन को ऊपर उठाने के उद्देश्य से भगवान कहते हैं कि जो योगी अक्षर ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर लेता है उसे वेद अध्ययन, यज्ञ, तप और दान से भी ऊंचा फल मिलता है। यह फल सर्वोच्च भी है और शाश्वत भी।

ध्यान दें कि यहां ज्ञान के साथ-साथ योगी शब्द का व्यवहार हुआ है। यह परम फल केवल ज्ञान से नहीं मिलता, ज्ञान को जीवन में धारण करने से मिलता हैं हम बीमार पड़ें, डाक्टर हमारी जांचकर पुर्जा लिख दे। हमें अपने रोग का ज्ञान हो जाए, उसके लिए क्या दवा ली जानी चाहिए उसका भी ज्ञान हो जाए तो क्या हमें कुछ लाभ होगा? हम पचासों बार भी दिन में उस प्रेस्क्रिप्शन को बांच ले, हमारा बुखार एक डिग्री भी उतरने वाला नहीं। उसके

लिए तो हमें प्रेस्क्रिप्शन में लिखी दवा खानी ही होगी।

गीता रामायण का पाठ हम पुण्य कर्म समझ कर करते हैं लेकिन उनके अर्थ पर मनन नहीं करते। कभी महात्माओं के सत्संग में अर्थ का ज्ञान हो भी गया तो उस ज्ञान को जीवन में उतारने के लिए साधना नहीं करते। कथा की बात कथा तक ही रह जाती है बाकी घर गृहस्थी वैसे ही चलती रहती है। भगवान कह रहे हैं, 'ज्ञानी के साथ-साथ योगी भी बनो। मैंने जो कुछ कहा है- उसे जीवन में उतार कर देखो तो सही, मैंने जो पथ दिखाया है उस पर एक कदम बढ़ाकर देखो तो सही, तुम्हें ऐसे लाभ होंगे जिसकी तुमने अब तक कल्पना भी नहीं की है। आओ! मेरा द्वार तुम्हारे लिए खुला है। मैं हाथ फैलाए तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा हूं। आओ! आओ!! आकर मुझसे मिलो, मुझमें मिलो।'

इस प्रकार श्रीकृष्ण अर्जुन संवाद में अक्षर ब्रह्म योग नामक अष्टम अध्याय पूर्ण हुआ।

ॐ तत् सत्